

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186232

UNIVERSAL
LIBRARY

शिक्षा और स्वराज्य

रायबहादुर

पंडित लज्जाशंकर भा

एम. ए., आइ ई एस.

[प्रिंसिपल, ट्रेनिंग कालेज, हिन्दू-विश्वविद्यालय]



भारती-भण्डार, काशी

१९९०

सर्वोदय साहित्य मन्दिर

ग्रन्थ संख्या—३४

प्रकाशक—

भारती-भण्डार
रामघाट, बनारस सिटी

प्रथम संस्करण

मूल्य १॥)

मुद्रक—

श्रीप्रवासीलाल वर्मा मालवीय

सरस्वती - प्रेस

काराी

प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक के विद्वान् लेखक शिक्षण-कला के यशस्वी विशेषज्ञ हैं। इसमें उन्होंने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के त्रुटियों की ओर शिक्षा-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए उनके सुधार की बड़ी उपयोगी योजना उपस्थित की है। यदि वह योजना कार्य-रूप में परिणत की जाय, तो वर्तमान शिक्षा-पद्धति के अधिकांश दोष सहज ही दूर हो सकते हैं।

आज-कल देश में स्वराज्य की बड़ी गर्म चर्चा है; किन्तु उसकी प्राप्ति से पूर्व उसके सँभालने के लिये देश को तैयार करने की आवश्यकता है। वह तैयारी शिक्षा-प्रणाली को परिष्कृत और उन्नत बनाने से ही पूरी हो सकती है। शिक्षण-कला-मर्मज्ञ लेखक ने इसमें ऐसी ही योजनाएँ बताई हैं, जिनसे सदोष शिक्षा-पद्धति का संस्कार सरलतापूर्वक हो सकता है।

लेखक महोदय शिक्षा-विभाग के उच्च-पदाधिकारी हैं। इस पुस्तक के रूप में उन्होंने अपने बरसों के अनुभव संकलित किये हैं। उनकी विचार-परम्परा बड़ी सुलझी हुई है। उनके तर्क भी बड़े प्रौढ़ और सुबोध हैं। युक्तियाँ तो ऐसी हृदय-ग्राहिणी हैं कि पाठक तत्काल प्रभावित हुए बिना न रहेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षण-कला पर हिन्दी में यह अपने ढंग की अकेली पुस्तक समझी जायगी।

एक बार इस पुस्तक के अध्यायों की तालिका पर दृष्टिपात करने ही से पुस्तक का वास्तविक महत्त्व प्रकट हो जायगा। शिक्षकों और अध्यापकों के लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी। विद्यार्थियों के लिये तो यह एक ऐसी पुस्तक है, जिसे उन्हें अहर्निश अपने साथ रखना

चाहिये। जनता को जगाने और उठाने के काम में लगे हुए देश-सेवकों के भी जानने योग्य बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें इसमें मिलेंगी।

पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि इसमें समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति, शिक्षा, आचार, शासन-व्यवस्था आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य-मुख्य बातें कैसी स्पष्टता से हृदयंगम कराई गई हैं। स्वदेशानुराग, मातृभाषा-महत्त्व, राष्ट्रभाषा-गौरव, नागरिकता, जनसत्तात्मक प्रणाली, जातीयता, राष्ट्रीयता, संघशक्ति, वाक्पटुता, शासन-क्षमता, पाठ्यक्रम आदि अनेक उपयोगी विषयों की विवेचना होने से यह पुस्तक देश की वर्तमान परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल बन गई है। देश के नेता, समाज के सुधारक, साहित्य के निर्माता, शिक्षा के कर्णधार, जनता के हितैषी, स्कूलों के छात्र, कालेजों के युवक विद्यार्थी, साम्प्रदायिकता के हिमायती और अधिकारों के टुकड़ों के लिये आपस में लड़ते रहने वाले महानुभाव, सभी इस पुस्तक से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण कर यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। इसे पढ़कर सभी एक स्वर से निष्पक्ष सम्मति प्रकट करेंगे कि देश की आधुनिक विषम परिस्थिति में ऐसी ही उत्कृष्ट पुस्तक की आवश्यकता थी।

यह पुस्तक दो वर्ष पूर्व ही प्रेस में दे दी गई थी; किन्तु कई अनिवार्य कारणों से इसका प्रकाशन अब तक रुका रहा। इसका हमें खेद है। सन्तोष इतना ही है कि ऐसी उत्तम पुस्तक हिन्दी में पहले-पहल प्रकाशित करने का श्रेय भारती-भण्डार को ही प्राप्त हुआ।

मार्गशीर्ष-पूर्णिमा

१९९०

अध्याय-सूची

क्रम-संख्या	अध्याय	पृष्ठ-संख्या
१	हिन्दुस्तान का परिवर्तन-युग	१
२	शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ?	६
३	स्वदेश-प्रेम	१२
४	मातृभाषा में विचार प्रकट कर सकने का महत्व	२३
५	राष्ट्रभाषा को चुनने और उसके विकास की आवश्यकता	२९
६	नागरिकता के भावों की आवश्यकता	३५
७	प्रजातंत्र-प्रणाली की कुछ आवश्यकताएँ	४७
८	आत्मरक्षा और धर्म-युद्ध	५३
९	ईमानदारी की आवश्यकता	६२
१०	मतदाता और प्रतिनिधि	६६
११	आत्मशासन के सिद्धान्तों पर विचार	७६
१२	राष्ट्रीयता की दृष्टि से जनता का स्वास्थ्य-सुधार और उसका महत्व	८५
१३	पाठशालाओं में शिक्षा की आवश्यकता क्यों है ?	९५
१४	जातीय शिक्षा किसे कहते हैं ?	१०१
१५	जातीय कमज़ोरियों को मिटाना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये	११४
१६	इंग्लिस्तान की पाठशालाओं में आत्मशासन की शिक्षा कैसे दी जाती है ?	१२७
१७	हिन्दुस्तान की शालाओं तथा कालेजों में क्या उद्योग हो रहा है ?	१३६
१८	सहयोगकारी खेलों द्वारा आत्मशासन की शिक्षा	१४७
१९	स्काउट-शिक्षा और उसके उद्देश्य	१५६

क्रम-संख्या	अध्याय	पृष्ठ-संख्या
२०	डिवेटींग सोसाइटी और नकली पार्लियामेंट	१६७
२१	पाठशालाओं के नियोजन में कायापलट की आवश्यकता	१७३
२२	भाषा-शिक्षण का लक्ष्य	१८५
२३	इतिहास और उसका महत्व	१९६
२४	भूगोल सिखाने का अभिप्राय	२१२
२५	कुछ इधर-उधर की	२२३
२६	बुद्धि मापने के वैज्ञानिक उपाय	२३१
२७	उपसंहार	२४८

लेखक की अन्य हिन्दी-पुस्तकें

(१) भाषा-शिक्षण-पद्धति

(मिश्रबन्धु-कार्यालय, जबलपुर)

(२) साहित्य-सरोज, भाग १-२

(मेकमिलन कम्पनी, कलकत्ता)

(३) हिन्दी-रीडर, नं० ५-६

(भॉक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	३	व्यक्तियों की शक्ति देश की शक्ति पर निर्भर है ।	व्यक्तियों की शक्ति पर देश की शक्ति निर्भर है
७७	१५	केपल	केवल
११०	१७	रक्तप्रभाव	रक्तप्रवाह
१११	२१	टिफ़िन	टिफ़िन
११४	१३	और अन्य प्रकार से भी अपना	पर अन्य प्रकार से अपना
१७५	१७	मेथेड	मेथड (Method)
१७७	१४	पढ़ता	पढ़ाता
१८८	११	विचार प्रकट करना	बिचार करना
२१३	१	वर्षा के भी आधार	वर्षा के आधार
२१९	६	सत्तर-अस्सी	पच्चीस-तीस
२२०	९	माष्ट	माष्टा

हिन्दुस्तान का परिवर्तन-युग

जिन्होंने इस देश की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि गतियों का अवलोकन किया है और जिन्होंने अपने अवलोकन पर थोड़ा-बहुत मनन भी किया है, उन्हें यह तो अत्यन्त प्रतीत हो गया होगा कि इस देश के निवासी धीरे-धीरे—परन्तु निश्चय-पूर्वक—अपने अनेक बन्धनों को तोड़ रहे हैं। जो सत्ता पहले गाँव के, शहर के या देश के थोड़े-से चुने हुए व्यक्तियों के हाथ में रहती थी, और बहुत-कुछ अब भी है, उसपर निरन्तर आक्रमण हो रहे हैं और वह सत्ता धीरे-धीरे कम भी होती जाती है। यह दृश्य किसी एक विशेष क्षेत्र में नहीं दीखता; परन्तु जीवन के प्रायः हर-एक क्षेत्र में देखने में आता है। बिरादरी के मुखियों का वह ज़ोर अब नहीं रहा, जो किसी समय था। उनके हुक्मों की या उनकी इच्छाओं की वह मान-मर्यादा नहीं रही, जो पहले देखने में आती थी। कुछ दिन पहले यदि बिरादरी का मुखिया ज़रा भी धमकी देता, तो लोग उसके हाथ-पैर जोड़ते, अपनी पगड़ी उसके पैरों पर डाल देते; यहाँ तक कि उसके जूते तक उठाने को तैयार हो जाते; परन्तु अब तो उसकी धमकियों की लोग पर्वाह तक नहीं करते।

इसी तरह, पहले यदि पुरोहितजी यह कह देते कि आज अमावस हैं—हजामत न बनवाना, अथवा शनि की ग्रह-दशा ख़राब है—उसका दान कर दो, तो हर-एक व्यक्ति यह आवश्यक समझता था कि उनके हुक्म

की तामील की जावे। यदि शास्त्रों या धर्म-ग्रन्थों का कुछ मतलब भी बतलावें, तो ऐसा कोई माई का लाल नहीं लिखता था, जो उस अर्थ को ग्रहण करने में आनाकानी करने की हिम्मत करे। सत्यनारायण की कथा कहते समय यदि वे कह जायँ कि भक्ति-पूर्वक कथा न सुनने से यजमान अगले जन्म में पशु-योनि में जन्म लेगा, तो यजमान आँख मूँद कर असंभव-से-असंभव बात मान लेता। परन्तु, अब क्या देखते हैं? अब तो यदि पुरोहितजी कह गये कि सोमवार को क्षौर कराने से संतति को दुःख होता है, तो यजमान उस रोज़ क्षौर करा लेंगे और फिर पुरोहितजी को बतलायेंगे कि देखिये महाराज, ऐसा करने से न मेरा कुछ बिगड़ा—न संतति का। यदि सत्यनारायण की कथा कही गई, तो फौरन् ही यह प्रश्न उठता है कि यह कथा तो कथा की कथा है, असल कथा कहाँ गई और वह क्यों नहीं पढ़ी जाती? इन प्रकार पुरोहित की दिह्लगी तक्र उड़ाई जाने लगी है।

नीच जाति के लोग उच्च जाति वालों की पूर्ववत् मान-मर्यादा करने को तैयार नहीं हैं। यदि किसी को उन्हें छूने से इनकार है, तो किसी बहाने छूने का प्रयत्न किया जाता है; यदि मन्दिरों में उन्हें जाने की मनाही है, तो सत्याग्रह करके बैठ जाते हैं और पूछने हैं कि जिन परमेश्वर ने सबको बनाया है, वह परमेश्वर क्या कुछ लोगों के मन्दिर में जाने से अपवित्र हो जायगा?

बहुधा घरों में बहू भी अपनी सास की सत्ता कम करने की फ़िक्र में लगी ही रहती है। यह मानता हूँ कि अब भी अनेक बहूँ अपनी सास के हुकमों को पूर्ववत् मानती हैं; परन्तु फिर भी अब सास का जोर उतना नहीं रह गया, जितना किसी ज़माने में था। अनेक घरों में थोड़ा-बहुत द्वन्द्व सास-बहू में चलता ही रहता है। अनेक कुटुम्ब, जिनका

जीवन सम्मिलित रीति से वर्षों से चला आता था, अब इसी मुठभेड़ के कारण विभक्त हो रहे हैं और भविष्य में अधिक विभक्त होते जायेंगे। जब सास की ही सत्ता कम हो चली, तब जेठानी या ननद को कौन पूछता है? बहू तो दूसरे घर की है। यदि वह अपना महत्त्व बढ़ाना चाहे, तो इसमें विस्मय का कोई कारण नहीं; परन्तु देखने में आता है कि जवान पुत्र भी अब अपने पिता की आज्ञा उस अन्ध-भक्ति के साथ नहीं मानता, जैसा पहले मानता था।

इसी तरह, राजनीतिक क्षेत्र में, जो अधिकार गवर्नर, कलेक्टर, तहसीलदार आदि अधिकारियों के हाथ में थे और जिनके सामने टक्कर खाने की हिम्मत बड़े-से-बड़े रईस को न होती थी तथा जिनके दरवाजे सभी लोग झाँकने थे, उनकी भी सत्ता क्रमशः कम होती जाती है। कोई समय था, जब अफ़नरों की दान तो दूर रही, पुलिस-कांस्टेबलों और चपरासियों को देखकर लोग थरथर काँपते थे और तुलसीदासजी के कथनानुसार—‘भय बिनु होइ न प्रीति’—उनकी मेहमानदारी करने में अपना सौभाग्य समझते थे। पर, अब क्या देखने में आता है? अब, पुलिसमैन या चपरासी तो दर-किनारा, कलेक्टर और कमिश्नर भी निकल जायें, तो लोग सलाम तक नहीं करते और काम-पड़े मुँहजोरी और हुक्म-उद्गूली करने को भी तैयार हो जाते हैं। कारण यही है कि उनकी भी सत्ता छीनने के लिये जनता का निरन्तर उद्योग जारी है और सत्ताधारियों के अधिकार दिन-दिन कम होते जाते हैं तथा अधिकारिण नख-दन्त-विहीन बनते जा रहे हैं।

जहाँ जाइये, चाहे जिस क्षेत्र को देखिये, पूर्वसंचित अधिकारों पर आक्रमण हो रहे हैं। जो कमज़ोर थे, वे अपने हकों को पाने के लिये कोशिश कर रहे हैं। किसान ज़मींदारों की कार्रवाइयों का विरोध करते

हैं; कहीं बेगार देने से इनकार करते हैं और कहीं दलबन्दी करके लगान देने से भी मुँह मोड़ते हैं। देहात में इस प्रकार ज़मींदारों और किसानों में द्वन्द्व उभड़ता जाता है।

कल-कारखानों में मज़दूर लोग संगठन करके पूँजीपतियों के हाथ से हुकूमत छुड़ाने के उद्योग में लगे हुए हैं और उनके मारे पूँजीपति लोग हैरान हो रहे हैं।

जैसे आज्ञाकारी नौकर पहले मिलते थे, वैसे तो अब स्वयं-सरीखे हो गये हैं। कुछ भी उलटा-सीधा कहा कि नौकरी छोड़ने पर तैयार ! वेतन अधिक और काम कम—इसी पर तुले रहते हैं।

नीच जातियाँ तो उच्च जातियों से आँखें बराबर करने की तैयारी में हैं ही, स्त्रियाँ भी अपने अधिकारों की घोषणा करने में लगी हुई हैं। सैकड़ों वर्षों के दबे हुए हिन्दू अब मसजिदों के सामने बाजे बजाकर मुसलमानों को यह दिखला रहे हैं कि अब उनकी हुकूमत जाती रही और यह नहीं हो सकता कि वे लोग तो मन्दिरों के सामने अपने बाजे पीटते जायें और हिन्दू लोग अपने बाजे मसजिदों के सामने बन्द कर दें।

काले आदिमियों को गोरों का भय पहले की अपेक्षा चार आना भी न रहा; भविष्य में यह और भी कम हो जायगा। बूढ़े पुराने आदिमी कहते हैं कि अब तो पूरा कलियुग आ गया; इस समय बड़ा अनर्थ हो रहा है। कोई कहते हैं कि 'ख़बर ला दे कोई तहतुस्सरा की' अर्थात् पूरा नरक दीख रहा है।

विचारवान पुरुष इस बात को स्वीकार करेंगे कि समय की इस प्रगति को अब कोई रोक नहीं सकता। जनतावाद का बल दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता जाता है—भविष्य में और भी बढ़ेगा। इसमें स्वेच्छा-चारी अधिकारों का मान नहीं रह सकेगा, केवल नियमबद्ध अधिकार ही

मान पा सकेंगे—और ये भी तभी, जब सर्वसम्मति से मंजूर हो जायें ।

हम लोग इस प्रकार के परिवर्तनों को पसन्द करें या न करें, पर उन्हें रोक नहीं सकते । जिस प्रकार नदी में जब बाढ़ आ जाती है, तब छोटे-मोटे बाँध बाँधने से कुछ लाभ नहीं होता ; उसी प्रकार समय की बाढ़ को रोकना अब किसी भी सत्ताधारी के लिये सम्भव नहीं है । कदाचित् यही समझ कर अँगरेज़-सरकार ने भी हिन्दुस्तान को डोमिनियन स्टेट्स—ओपनिवेशिक अधिकार—देने का बचन दे दिया है । कुछ अधिकारिगण, पूँजीपति या पंडित लोग भले ही अवरोध करें ; परन्तु समय की गति को न वे रोक सकेंगे, न और कोई । जनता के हाथ सत्ता अवश्य आवेगी, और जीवन के सब क्षेत्रों में—केवल राजनीतिक क्षेत्रों में ही नहीं—वपौती पाये हुए अधिकारियों की सत्ता अवश्य छिनेगी—आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों ।

अब, इस दशा में, विद्वानों का क्या धर्म है ? बस यही कि जो बात होने को हो है, उसको ऐसा रूप देने की चेष्टा करें कि उससे अधिक-से-अधिक लाभ हो और कम-से-कम हानि । व्यर्थ खेद करने से कुछ लाभ नहीं दीखता ।



शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ?

हिन्दुस्तान का जो युग अब निकल रहा है, उसकी जीवन-प्रणाली जैसी थी, उसी के अनुसार पाठशालाओं और कालेजों में शिक्षा दी जाती है। उसमें एक तो अधिकारी जनों की आज्ञा मानना और दूसरे उनके भरोसे देश के सब कार्य छोड़ना बहुत आवश्यक था।

‘कोउ नृप होउ हमहिं का हानी ; चेरि छाँड़ि अब होव की रानी ॥’
‘काज़ीजी दुबले क्यों ? शहर के अंदेशों से !’—इस प्रकार जनता अपने मन को समझाकर, राजा को राज्य का काम सौंप कर, पैर फेलाये सोती थी। समाज का संगठन जिस प्रकार से चला आ रहा है, उनको मान लेना भी आवश्यक था। इसीलिये हमारे शिक्षा के आदर्श भी उनका अनुकरण करते थे। स्वतन्त्रता न होने के कारण प्रत्येक बालक को यह सिखलाया जाता था कि व्यर्थ झंझट में मत पड़ो। ‘अपना भला तो सबका भला’ कहकर बालकों को दुनियाँ के झगड़ों से अलग रहने की दीक्षा दी जाती थी। इसी तरह, जब किसी बालक की तारीफ़ की जाती, तो कहा जाता था कि यह बड़ा सीधा लड़का है—जैसा कहो, वैसा करने को तैयार रहता है। कारण यही कि सत्ताधारियों के राज्य में जो ज़रा चीँ-उपड़ करे, तो ख़तरे में पड़ने की सम्भावना अधिक रहती थी। इसी प्रकार, यह भी शिक्षा दी जाती थी कि व्यर्थ मत बोलो, मन की बात मन में रखो, किसी से उलझो मत और अपना काम हिकमत-अमली से निकालो।

यदि मुगलों के समय या रजवाड़ों में कोई मनुष्य साफ-साफ बात कह दे, तो उसकी जीभ तक निकलवा ली जाती थी। अंगरेज़ी राज्य में इतना भय तो नहीं रहा ; परन्तु तो भी अधिष्ठासिद्धि की सत्ता-प्रणाली में मनुष्य अपने विचार स्पष्टता से कहने में संकोच करता था और खरी-खरी कहने में तो उसे आगे-पीछे देखना ही पड़ता था। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व व्याख्यान देने या लेख लिखने या देश-प्रेम के भजन गाने में भी अनेक व्यक्ति हिचकते थे और घर में तथा स्कूलों में यही शिक्षा दी जाती थी कि बेटा, बकबक मत करो, कहीं भ्रमेजे में न पड़ जाओ। राज्य के प्रति जनता का क्या धर्म है, उस ओर किसी का लक्ष्य ही न था। सार यह कि जिस प्रकार का जीवन बालकों को भविष्य में ब्यतीत करने की सम्भावना थी, उसी के उपयुक्त बालकों के हितैशी जन उपदेश देते थे।

किन्तु अब, जब कि जन-शासन-प्रणाली का प्रादुर्भाव हो रहा है और जब तक बालक बड़े होंगे, तब तक बिल्कुल नई दुनिया खड़ी हो जायगी ; तब भी क्या वे लोग पुराने ही प्रकार की शिक्षा देते रहेंगे ?

पाठशालाओं में बालकों को शिक्षा देने का तो मुख्य अभिप्राय यह होना चाहिये कि जिस प्रकार के जीवन में भारी नागरिकों को रहना है, उसके लिये अभी से उनको तैयार होना सिखाया जाय। जिस प्रकार का जीवन भूतकाल में सफल होता था, उस प्रकार के जीवन के लिये यदि बालक तैयार किये जायँ और उनको नवीन जीवन के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न न किया गया, तो भविष्य में इन बालकों को बहुत दुःख होगा और जीवन की होड़ में वे पिछड़ जायँगे।

मान लिया जाय कि किसी मनुष्य को हाथी, बैल तथा ऊँट चलाना सिखलाया गया है ; परन्तु न तो उसे बाइसिकिल चलाना मालूम है—न वह मोटरकार के ड्राइवर के इशारे ही समझ सकता है—न उसे पेट्रोल,

गैस, बिजली, हवा और पानी की शक्तियों का उपयोग मालूम है ; तो फिर वह मनुष्य इस दुनिया में क्या कर सकेगा ? देश के किसी कोने में अल्प वेतन पर वह भले ही बैलगाड़ी चलाया करे ; परन्तु उसका जीवन असफल ही रहेगा । जीवन की होड़ में उसकी क़दर ही क्या हो सकती है ?

कोई राजा यह ठान ले कि हमारे पूर्वज तोर-तलवार के सहारे युद्ध करते थे, इसलिये हमारी सेना भी तलवार-बहादुर और तीरन्दाजी में निपुण होगी ; परन्तु वह राजा आधुनिक आविष्कारों की ओर यदि ध्यान न दे और अपनी सेना को तोप, रायफल, बम, मशीन-गन, टैंक्स, वायुयान, आदि अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग सीखने का मौका न दे ; तो उस राजा के राज्य की कितने दिनों तक खैरियत रहेगी ?

हिन्दुस्तान के इतिहास में बार-बार यह देखने में आता है कि हिन्दू जातियों और राजाओं की हार और क्षति इस कारण नहीं हुई कि उनमें वीरता तथा पौरुष की कमी थी ; बल्कि केवल इस कारण हुई कि समय के अनुसार वे अपने जीवन में परिवर्तन न कर सके । दुरमन तो तोप-बन्दूक लेकर लड़ने आया और मुकाबिला करने गये ढाल-तलवार लेकर ! फिर कहीं-कहीं तुरां यह कि राजा साहब हाथी पर चढ़कर लड़ने को जाते ! तोप की आवाज सुनकर या बन्दूक की चोट खाकर हाथी क्या किसी के बूते में रह सकता है ? फल यह होता था कि राजा साहब का हाथी उन्हीं की सेना कुचलने लगता और इस प्रकार पराजय का मुख्य कारण होता था । तोप-बन्दूक के सामने ढाल-तलवार लेकर मनुष्य कितनी देर तक टिक सकता है ? समय के अनुसार परिवर्तन न कर सकने के कारण हिन्दुस्तान के वीर-शिरोमणि राजाओं तथा योद्धाओं को अनेक बार दुश्मन का लोहा मानना पड़ा है । इन कारणों से यह बात ज़ेबेगी कि समय के अनुसार मनुष्य-जीवन का परिवर्तन करना बहुत आवश्यक है,

और जो समाज ऐसा परिवर्तन करने में असमर्थ होता है, उसका नाश जीवन की होड़ में अवश्य होगा।

हिन्दुस्तान के इतिहास से यह भी प्रगट होता है कि हिन्दू जाति यदि सात-आठ सौ वर्षों तक पद-दलित होती रही, तो इसका कारण यह नहीं था कि उसका बिलकुल नैतिक पतन हो गया था या उसमें वीरता की कमी थी ; बल्कि उसकी क्षति विशेषकर इस कारण हुई कि उसमें संगठन की शक्ति या संघ-शक्ति की बहुधा कमी रही। जाति-भेद तथा नीच-ऊँच के भगड़ों के कारण हिन्दू-समाज एक-दिल होकर कभी न लड़ सका और इसी से विजेता लोगों ने एक-एक करके हिन्दू नरेशों को परास्त किया। जीवन-संग्राम का एक व्यापक सिद्धान्त देखने में आता है कि जिस समाज में संघ-शक्ति अधिक है, वही समाज जीवन की होड़ में सफल होता है और जिसमें इस शक्ति की न्यूनता है, उसका तो ईश्वर ही मालिक है ! हिन्दू-समाज ने संघ-शक्ति की न्यूनता के कारण अनेक दुःख पाये हैं और अब भी पा रहा है—उसे कोई भी धमका कर दबा लेता है !

इस कारण, शिक्षा का उद्देश्य यह भी होना चाहिये कि बालकों को संघ-शक्ति उपार्जन करने की उत्तम दीक्षा दी जावे। तभी उनका जीवन, जाति के जीवन के साथ, सुखमय हो सकता है।

संघ-शक्ति के उपयोग से जो लाभ हो सकते हैं, उन्हें देखना हो, तो मनुष्य जंगलों की सैर करे। मध्य-प्रदेश के जंगलों में मैंने यह देखा कि जंगली साँड़ और गौश्यों को जब हिंसक पशुओं से किसी प्रकार का भय उत्पन्न हो जाता है, तो तुरन्त ही वे एक चक्र-च्यूह रच लेते हैं। बछड़ों को और असमर्थ पशुओं को बीच में डालकर बलवान पशु और गौएँ मण्डल बाँधकर खड़ी हो जाती हैं—उनके सिर और सींग तो बाहर की तरफ और पीठ केन्द्र की तरफ रहती है। इस प्रकार की संघ-शक्ति देख-

कर फिर हिंसक पशुओं की हिम्मत नहीं पड़ती कि उनपर हमले कर। संव-शक्ति के कारण गाय-बैल-सरीखे अक्षम और सात्विक पशु भी व्याघ्र-सिंह-सरीखे बली जानवरों से अपना रक्षा कर लेते हैं ; परन्तु पालतू गाय-बैल इस शक्ति से हीन होने के कारण शीघ्र ही शिकार बन जाते हैं।

छत्तीसगढ़ के जंगलों में एक बार मैंने भैंसों को संव-शक्ति का विचित्र उपयोग करते देखा। अलवत्ता गाँव के कुछ लोगों ने संकेत द्वारा उन्हें शिक्षा दी थी। जंगल में मेरे डेरे जहाँ पड़े थे, उसी के बिल्कुल निकट, प्रायः पात्र मील की दूरी पर, एक घायल व्याघ्र छिप रहा था और यह भय था कि डेर पर कहीं रात को हमला न करे। गाँव वालों ने हमारे ऊपर से इस जोखिम को निकालने के लिये एक दूसरे प्रकार का भैंसों का चक्र-चूड़ तैयार किया। जित्त स्थान पर बाघ छिपा हुआ था, उसके चारों तरफ़ भैंसों को वृत्त-रूप में खड़ा किया—उनका मुख केन्द्र की तरफ़ था। इशारा पाते ही केन्द्र की तरफ़ सब भैंसे धीरे-धीरे आने लगे। सां-डेड़-सो न्तिर देखकर बाघ भी घबरा गया, उसने हमला करना चाहा ; परन्तु हिम्मत न पड़ी ! भाग्यवश वह गोली की चोट से शीघ्र ही मर गया, वरन् भैंस संव-बद्ध होकर उसे अवश्य मार डालते।

जीवन-संग्राम में कहीं छोटे-छोटे—परन्तु बुद्धिमान्—प्राणी, जैसे मधुमक्खी, बरेंया चींटी, अत्यन्त निबल होने पर भी, स्वार्थ-रहित सामाजिक जीवन होने तथा प्रबल संव-शक्ति रहने के कारण, अपना जीवन सुखमय व्यतीत कर लेते हैं। मधुमक्खी या बरें के छत्ते को अथवा चींटी की बाँबी को छेड़ना कोई ठट्ठा नहीं है। मनुष्य या अन्य प्राणी दूर ही से इनको नमस्कार करते रहते हैं। इन प्राणियों के जीवन का अवलोकन करने से यह प्रतीत होता है कि इनमें यदि संव-शक्ति न हो, तो इनका नाश होना बहुत सरल है। परन्तु इनका सारा जीवन

समाज-सेवा में लगा रहता है ; इस कारण इनका समाज संगठित तथा बलवान होता है ।

एक समय मैंने एक जंगल में विचित्र दृश्य देखा । लाल चींटियों का एक बड़ा जत्था एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक जाना चाहता था । इसलिये कुछ चींटियों ने एक दूसरे के पैर को मुँह में दबा कर अपनी एक शृंखला बनाई, जिसका एक छोर पहले पेड़ की डाल में लटकाया गया और उसका दूसरा छोर हवा के झोंके से दूसरे पेड़ की किसी डाल तक पहुँचाया गया । दूसरे छोर की अंतिम चींटी ने उस डाल को जकड़ कर पकड़ लिया । वन, फिर क्या था, एक खासा पुल तैयार हो गया ! उसी पर से हजारों चींटियाँ इस पेड़ से उस पेड़ तक चली गईं । अन्त में, जो चींटी पहले पेड़ को पकड़े हुई थी, अपने अपना मुँह खोल दिया, वन वह चींटियों की लड़ी दूसरे पेड़ से लटकने लगी, और तब एक-एक करके सब अपने-अपने स्थान पर चली गईं ।

इस उदाहरण से प्रायः सबको विस्तृत होगा ; परन्तु मेरी मजक में मनुष्य-जाति के लिये, संगठित जीवन का यह कितना अच्छा उदाहरण है ।

इस वक्तव्य का सार यह है कि नशीन जीवन के अनुकूल बालकों को तैयार करने के लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है । और, विशेषकर उनमें संव-शक्ति उत्पन्न हो तथा वे उसे सुगमता से प्राप्त कर सकें—इसकी व्यवस्था करनी चाहिये । 'लकीर के फकीर' बने रहने या परम्परागत रीति में चलने से काम न चलेगा, वरन् विनाश तक होने की सम्भावना है ।

स्वदेश-प्रेम

इस नवीन-जीवन में जन-शासन-प्रणाली प्रधान होगी, तो ज़रा सोचना चाहिये कि उसमें सफलता पाने के लिये मनुष्य को किन-किन प्रकार के गुणों की आवश्यकता पड़ेगी। इतना तो पक्का है कि जन्म के कारण प्राप्त हुए अधिकारों का मान दिन-पर-दिन घटेगा। यदि कोई इस कारण मान चाहे कि हम उच्च वर्ण में पैदा हुए हैं, या किसी रईस के लड़के हैं, अथवा हमें बहुत-सा बाप-दादों का धन मिला है; तो ऐसी आशा करना व्यर्थ है। जनता-वाद होने पर वही ऊपर जा सकेगा, जिसकी बुद्धि प्रखर है, जिसका चरित्र अच्छा है, और जो दूसरों की सहकारिता सुगमता से प्राप्त कर सकता है। ग़रीब-से-ग़रीब, नीच-से-नीच भी—यदि वह चरित्रवान तथा गुणवान है, और जनता से पूँठ न दिखाकर उसे अपने वश में ला सकता है—ऊपर चढ़ेगा। बड़े-बड़े रईस, सेठ, ज़मींदार और पंडित तो क्या, राजा-महाराजा भी—जो अपने कुल, धन, वर्ण या विद्या की ठसक में रहकर जनता से खिंचे रहेंगे—धीरे-धीरे पीछे पड़ जायँगे। 'ताम्बे की मेख, तमाशा देख'—इस कहावत के अनुसार, सम्भव है कि उनसे रुपया खींचने के लिये, अथवा उनके द्वारा अन्य कोई मदद पाने के लिये, रईसों तथा धनवानों को लोग उच्चासन पर बिठा दें; पर रहेंगे वे कठपुतलियों के समान, असली सूत्रधार कोई दूसरे ही होंगे।

जनता-प्रणाली में यह तो आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति में देश-प्रेम

तथा नागरिकता के बीज बोये जायँ और पाठशालाओं में उनका सिंचन तथा पालन-पोषण किया जाय ।

देश-प्रेम दो प्रकार का देखने में आता है । एक तो वह, जिसमें केवल मनोविकार प्रबल होते हैं ; परन्तु साथ ही प्रेम अन्ध-भक्ति का रूप ले लेता है । इसका फल यह होता है कि मनुष्य अपने देश का कोई दोष नहीं देख सकता और न उसके सम्भूत की कोशिश ही करता है । साथ-ही-साथ अन्य जातियों तथा अन्य देशों की संस्थाओं से अविवेकपूर्ण घृणा भी उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार के देश-प्रेम से देश को कोई विशेष लाभ नहीं होता, बल्कि हानि हो जाती है । दूसरा देश-प्रेम वह है, जो विचारपूर्ण और न्याय-युक्त हो ; उससे अनेक लाभ होते हैं । न्याय की मात्रा अधिक होने से मनुष्य यदि यह देखे कि हमारे देश वाले अन्याय कर रहे हैं तो देश को कलंकित होने से बचाने के लिये वह उसका भरपूर विरोध करेगा । जिस समय इंगलिस्तान की सरकार अमेरिका की नई बस्तियों के साथ बुरा व्यवहार कर रही थी और स्वार्थ की दृष्टि से उनपर अत्याचारी टिकस लगा रही थी, उस समय एडमंड बर्क ने यही वाजिब समझा कि उस नीति का पूर्ण विरोध करें और इस विषय पर वह बराबर चेतावनी देता रहा कि अन्याय मत करो, नहीं तो अमेरिका की नई बस्तियाँ हाथ से निकल जायँगी । उसकी चेतावनी पर ब्रिटिश-सरकार ने ध्यान नहीं दिया और अन्त में नई बस्तियाँ हाथ से निकल ही गईं, जो अब युनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका (अमेरिका का संयुक्त राज्य) के नाम से प्रसिद्ध हैं । इसी तरह, जब उसने देखा कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य में वारेन हेस्टिंग्स के कारण हिन्दुस्तान के राजाओं, नवाबों तथा प्रजा के साथ अन्याय हो रहा है ; तब वारेन हेस्टिंग्स को सज़ा दिखाने के लिये उसने सात वर्ष तक निरन्तर

उद्योग किया। इस कारण समस्त अँगरेज़ जाति उसके विरुद्ध हो गई और उसको अनेक कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ीं; पर वह अपने लक्ष्य से न हटा। उसका अभिप्राय केवल यही था कि अँगरेज़ जाति के नाम से कोई काम ऐसा न हो जाय, जिसके कारण उसके यश में धब्बा पड़े। ऐसे ही देश-प्रेमी 'नर-रत्न' कहे जा सकते हैं।

एक अँगरेज़ ने कहा है कि 'हे इंगलिस्तान ! तेरे अनेक दोष होने पर भी तू मुझे प्यारा है।' ऐसी चित्त-वृत्ति हर-एक देश-प्रेमी की होनी चाहिये। अपने देश पर तो पूरा प्रेम रहे और उसके हित में तन, मन, धन—सब कुछ—अर्पण करने को तैयार होना चाहिये। स्वामी सत्यदेवजी ने कैसा सुन्दर कहा है—

“धन्य हैं वही जिन्होंने देश-हित की धूनी रमाई हो ;
जिन्हें देश ही प्यारा पिता पुत्तर लुगाई हो ।
जिन्हें परवाह न खाने की, न पीने की, न सुध तन की ;
जिन्हें आदर-अनादर एक-सा देता दिखाई हो ॥”

क्या ही उत्तम भाव है !

परन्तु जो देश-प्रेमी विचारवान हैं, वे इतने अन्य-भक्त न हो जायेंगे कि स्वदेश की किसी संस्था में यदि किसी प्रकार की न्यूनता हो, तो उसको मानने को तैयार न हों; अथवा उसमें कोई बुराईयाँ घुम रही हों, तो उनको निकालने की काशिश न करें। साथ ही, यदि किसी अन्य जाति या देश में कोई अच्छी बात हो, तो उसे भी मानने को तैयार न हों। देश का सुधार वही कर सकता है, जो उसकी त्रुटियों के समझने की शक्ति रखता है और उनको हटाने की कोशिश में लगा रहता है। जिस प्रकार हमारी जाति में अनेक गुण हैं और उनको जानना तथा उनका अभिमान करना हर-एक देश-प्रेमी का धर्म है, उसी प्रकार दुनिया की

अन्य जातियों में भी कोई-न-कोई गुण अवलोकन करने से दीख ही जाते हैं। उनको स्वीकार न करना अन्ध-द्वेष है और देश-प्रेमी को वह शोभा नहीं देता।

इसी प्रकार, देश-प्रेम के अनेक रूप हो सकते हैं।

एक हिन्दुस्तानी सज्जन, जो कुछ रोज़ स्विट्ज़रलैंड में जाकर रहे थे, मुत्तसे वहाँ के निवासियों के देश-प्रेम की अत्यन्त मनोरंजक कथा सुनाते रहे। एक समय थे महाशय एक जर्मन फौजी अफ़सर के साथ मैटरहॉर्न (Matterhorn) पर्वत के शिखर पर पहुँचने के लिये रवाना हुए। रास्ते में ग़रीब गड़रियों के छोटे-छोटे भोपड़े कहीं-कहीं मिल जाते थे। रास्ते में जर्मन अफ़सर का मनी-बैग कहीं गिर गया। उसमें चार-पाँच सौ के नोट और कुछ नक़द पिके थे। दो-तीन दिन बीत जाने और कई मंजिल चले जाने पर जर्मन अफ़सर को पता लगा कि मनी-बैग पाकेट में नहीं है। वह आसूदा था और यह समझकर कि रास्ते में कहीं गिर गया होगा, उसने तलाश करना भी छोड़ दिया और निराश होकर आगे चला। चौथे या पाँचवें रोज़ एक नौजवान गड़रिया उसके पास पहुँचा और वह मनी-बैग वापस कर दिया। खोलने पर मालूम हुआ कि उसमें से एक पिका भी नहीं गया! साहब, गड़रिये की भोपड़ी में, मनी-बैग छोड़ आये थे और वह बिचारा उसे लौटाने के लिये तीन-चार मंजिल तक दौड़ आया। हिन्दुस्तानी सज्जन को यह देख बड़ा अचम्भा हुआ और उन्होंने उस गड़रिये से फ्रेंच-भाषा में पूछा कि क्या वजह है कि मनी-बैग लौटाने के लिये उसने इतनी फिक्र की और तकलीफ उठाई। उसने उत्तर दिया कि आप हिन्दुस्तान से आये हैं और दूसरे महाशय जर्मनी से; क्या मैं इस बात को ग़वारा कर सकता हूँ कि आप लोग अपने देश में जाकर लोगों से यह कहें कि स्विस लोग चोर होते हैं और मनी-बैग छीप लेते हैं।

देश-प्रेम का क्या ही अच्छा नमूना है !

यदि हमारे तीर्थ-क्षेत्रों में यही भाव उत्पन्न हो जाय कि जो यात्री तीर्थ में आते हैं, उनको कोई भी ठगो नहीं, वाजिव दाम ले और उनकी कोई वस्तु चोरी न जाय ; तो हमारे देश का भी मुख कितना उज्ज्वल हो जाय !

एक हिन्दुस्तानी सज्जन पेरिस के किसी होटल में जाकर ठहरे । परन्तु अभाग्यवश सर्दी के कारण बीमार पड़ गये । होटल के मैनेजर ने तुरन्त डाक्टर बुलाया और जब तक वह अच्छे न हो गये, दो बार नित्य देखने का डाक्टर से आग्रह किया । बीमारी की दशा में कोई-न-कोई, स्त्री या पुरुष, बीमार की सेवा के लिये हाजिर रहता था । जब वह कुछ अच्छे होने लगे, तब उनके मनोविनोद के लिये 'सारबॉ' (Sarboane) यूनिवर्सिटी में टेलीफोन किया और वहाँ के हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों को सूचना दी कि तुम्हारा एक देश-वासी हमारे होटल में कमजोरी के कारण पड़ा है, उसका मन लगता नहीं है, आकर उसका दिल बहलाने में सहायता दो । जब ये हिन्दुस्तानी सज्जन वहाँ से चलने लगे, तब मैनेजर को डाक्टर को फीस आदि खर्च चुकाना चाहा ; परन्तु उस फ़रासीसी सज्जन ने साफ़ इनकार कर दिया और कहा कि आप हमारा देश के मेहमान हैं और यदि आपकी तबीयत बिगड़ गई और हमने इलाज के पैसे लिये, तो फिर हमने क्या अतिथि-सत्कार किया ? फ़रासीसी लोगों को ऐसा नीच आप हरगिज़ न समझिये कि थोड़ी-सी सहायता के लिये भी पैसे ऋतकने की कोशिश करेंगे ।

फ़्रांस देश के एक दूसरे सज्जन मुझसे जिक्र करते थे कि वह देहात में किसी ग्रामीण कुटुम्ब के घर में जाकर फ्रेंच भाषा सीखने के लिये रहे थे । वहाँ उनकी भी तबीयत खराब हुई । ग्रामीण की बुढ़िया स्त्री ने और

उसकी छः नौजवान लड़कियों ने बीमार सज्जन की पूर्ण सेवा की और जब वे उनको मना करने लगे कि आप क्यों तकलीफ उठाते हैं—मैं सब दुःख भुगत लूँगा, तब उस बुढ़िया ने जवाब दिया कि तुम्हारी माँ हिन्दुस्तान में है—उसकी आत्मा कैसी चिन्तित होगी ! मेरे पुत्र भी 'मरोको' में सेना में गये हैं, उनकी चिन्ता मुझे व्याकुल बनाये रहती है। इससे मैं समझ सकती हूँ कि तुम्हारी माता कैसी बेचैन होगी ! जैसा मैं चाहती हूँ कि मरोको-देश में लोग मेरे पुत्रों को माता का प्रेम दिखावें, वैसे ही क्या तुम्हारी माता यह नहीं मनाती होंगी कि फ्रान्स-देश की कोई स्त्री तुम्हारे संकट में मातृवत् प्रेम करे ?

इंगलिस्तान-देश में जो लोग रह आये हैं, वे इस बात के साक्षी होंगे कि वहाँ के कुटुम्बीजन दूध के बर्तन को सोने के समय घर के बाहर रख देते हैं और ग्वाल लोग सुबह के वक्त बिना किसी को जगाये जितना जिसको दूध चाहिये, उतना उसके बर्तन में डालकर चले जाते हैं और शायद ही किसी को यह शिकायत होती हो कि दूध कम दिया गया या खराब दिया गया। ग्वाल लोग इस बात का अभिमान रखते हैं कि हमारी दी हुई वस्तु में कोई खोट न निकाल सकेगा।

इस प्रकार, अन्य देशों में जो अच्छे गुण देखने में आवें, अपने देश में उनके प्रचार करने का उद्योग करना भी एक प्रकार की देश-सेवा है।

यूनान-देश के एक विद्वान के बारे में, जिसका नाम 'सुकरात' था, यह कथा प्रसिद्ध है कि उसके समय में लोगों की प्रवृत्ति वितण्डावाद में ऐसी लगी हुई थी कि लोग बड़े-बड़े शब्दों का उपयोग बिना समझे करते थे। सुकरात को यह निश्चय हो गया कि विद्वानों में बिना समझे-बूझे शब्दों के प्रयोग की जो आदत पड़ गई है, उससे देश के कल्याण में बाधा पड़ रही है। इस कारण उसने अपना धर्म यह समझा कि विद्वानों से वात्ता-

लाप करके शब्दों की परिभाषा पूछें और अपने विचार स्पष्ट करने को कहें । उसके प्रश्नों के मारे वहाँ के विद्वान इतने तंग आ गये थे कि उन्होंने राजकीय सभा में यह प्रस्ताव पास करा दिया कि सुकरात प्रश्न पूछ-पूछ कर नव-युवकों को भ्रम में डाल देता है, इसलिये उसे जहर का प्याला पीने की सजा दी जावे । सुकरात के शिष्यों ने बहुत चाहा कि या तो वह भाग जावे अथवा क्षमा माँग ले । किन्तु क्षमा माँगने से उसने साफ़ इनकार कर दिया ; क्योंकि उसने कोई अनुचित कार्य नहीं किया था, और भाग जाने के विषय में भी उसने साफ़ इनकार कर दिया । उसने अपने शिष्यों से कहा कि मेरे देश में न्याय हो अथवा अन्याय ; पर जब मैं उसके कानून में इतने रोज़ तक पला हूँ ; तो मेरा धर्म यह नहीं है कि कुछ अन्याय होते ही मैं कानून का अपमान कर दूँ—यानी मैं 'मीठा-मीठा गप और कड़वा-कड़वा धू' करना नहीं चाहता । जिस देश में मैं रहता हूँ, उसके कड़वे तथा मीठे दोनों आदेशों का पालना मेरा धर्म है ।

देश-प्रेम के नियमों का किस अनुपम रीति से सुकरात ने दिग्दर्शन कराया है ।

बहुधा देखने में आता है कि अनेक देश-प्रेमी, जब तक उनके मन का होता रहे, तब तक सेवा में लगे रहते हैं ; परन्तु ज्योंही उनके मन के विरुद्ध कोई कार्य हुआ, या उनके खटाई में पड़ने की सम्भावना हुई, त्योंही वे अलग हो जाते हैं । यह सच्ची देश-भक्ति नहीं है ।

कुछ दिन हुए, एक विचित्र दशा काँग्रेस में भी देखने में आई थी । काँग्रेस की बदौलत अनेक सज्जन कौंसिलों तथा असेम्बली में घुस गये थे । कुछ तो सचमुच योग्य थे ; पर अनेक ऐसे भी थे, जिनको बिना काँग्रेस-दल की मदद के कोई दो कौड़ी को भी न पूछता । वे अपनी योग्यता के बल से कौंसिल या असेम्बली में नहीं पहुँचे थे । फिर जब काँग्रेस का

हुकम बहुमत से हुआ कि मेम्बरी छोड़ो, तब कुछ मेम्बरों ने अपना आपन छोड़ना नहीं चाहा। वे कहने लगे कि हमारे मत से तो कांग्रेस गलती कर रही है। कुछ तो कांग्रेस से असहयोग भी कर बैठे। उनका सिद्धान्त तो यह दीखता था कि जब तक हमारे हाथ में घी-शकर हो, तब तक हम सेवा के लिये हाज़िर हैं। रहा तकलीफ़ पाना, सो तो किसी गुरु ने सिखलाया नहीं है !

यह तो एक संस्था की चर्चा हुई। परन्तु इतिहास के पन्ने उलटने से ज्ञात होगा कि देश के इतिहास में भी इस प्रकार के असहयोग देखने में आते हैं। सुकरात का अपने शिष्यों को उपदेश कितने महत्व का है ; यह ऐसे ही अवसरों पर घटित होता है।

स्वदेश-प्रेम के उपर्युक्त नियम सर्व-व्यापी हैं ; परन्तु हिन्दुस्तान की स्थिति देखते हुए जनता को कुछ और भी विशेष नियम सिखाना अनुचित न होगा।

अपने किसी देश-वासी की अधीनता में कार्य करने में किसी भी हिन्दु-स्तानी को हिचकना नहीं चाहिये, बल्कि उसमें गर्व करना चाहिये। अभी अभाग्यवश ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो अंगरेज़ हाकिम की मातहतता में तो खुश रहते हैं, और उसके हुकम दस्त-बदस्त पालने को तैयार रहते हैं ; परन्तु वे ही यदि किसी हिन्दुस्तानी अफ़सर के नीचे रख दिये जाते हैं, तो उनका तोबड़ा फूल जाता है—और वे न आज्ञा-पालन में वैसे तत्पर रहते, न काम ही उतनी मुस्तैदी से करते। अपने किसी देश-वासी को ऊँचे स्थान पर देखकर गर्व होना तो दूर रहा, उनकी ईर्ष्या-बुद्धि जाग्रत हो जाती है। खेद है कि अब भी ऐसे व्यक्ति बहुत-से मिलते हैं। पाठ-शालाओं तथा कालेजों में इस प्रकार की धर्म-बुद्धि जाग्रत करने की आवश्यकता है कि अपना कोई भी देश-वासी—चाहे जिस धर्म का अनुयायी

हो, अथवा किसी प्रान्त का निवासी हो—यदि किसी उच्चासन को प्राप्त हो जाय, तो उसको सफल बनाना प्रत्येक देश-वासी का धर्म समझा जाय । उदाहरण के लिये, आज किसी देशी भाई को यदि सरकार किसी प्रदेश का गवर्नर बना दे, तो क्या प्रत्येक हिन्दुस्तानी का यह धर्म नहीं है कि उसको हर तरह सहायता दें और दुनिया को दिखा दें कि देशी गवर्नर विदेशियों की अपेक्षा अधिक तथा उत्तम कार्य कर सकता है ?

इस भाव के जाग्रत होते हो जाति-भेद, प्रान्त-भेद या धर्म-भेद होने से जो ईर्ष्या-बुद्धि उत्पन्न होती है, उसका भी नाश होना आवश्यक है । रैदास चमार या कबीरदास जुलाहा या हेमू बनिया हमको उतने ही प्रिय होने चाहिये, जितने कि शंकराचार्य या राणाप्रताप ; क्योंकि वे भी तो देश के सपूत थे ।

बड़े खेद की बात है कि हमारे साहित्य तथा उसकी कहावतों में ऐसी अनेक बातें आ गई हैं, जिनमें किसी-न-किसी जाति पर कुछ आक्षेप आ गया है ।

उदाहरणार्थ—

‘सूजी, सुवा, सोनार ; जे कहूँ मीत न आपने ॥’

‘खत्री-पुत्रम् कभी न मित्रम् । यदि मित्रम् तो दगादगी ॥’

‘यकम अफ्रगों, दुयम कम्बोह, सियम बदजात कशमीरी ॥’

इस प्रकार की कहावतें, एक तो अन्याय-पूर्ण हैं, और दूसरे वे देश के वातावरण में ज़हर फैला देती हैं । इनको साहित्य से तथा उपयोग से निकाल बाहर करना चाहिये और छोटे-छोटे बालकों के सामने तो इन्हें भूल कर भी नहीं आने देना चाहिये ।

यदि हममें सच्चा देश-प्रेम है, तो हमें अपने देश-भाई पर भरोसा करना भी जानना चाहिये । किसी भी देश-भाई के विरुद्ध, यदि कोई

बात हो, तो बिना सोचे-विचारे अथवा बिना पूरा सबूत पाये, उसपर विश्वास न कर लेना चाहिये। अँगरेज़-जाति जो राज्य चलाने और व्यापार करने में इतनी समर्थ हो गई है, उसका मुख्य कारण यह है कि अँगरेज़ को अँगरेज़ का पूरा भरोसा रहता है और एक के विरुद्ध यदि कोई शिकायत करे, तो दूसरा जल्दी मानता नहीं। यदि किसी कारखाने या बैंक या किसी संस्था का मैनेजर अँगरेज़ हो, तो उसके देश-वासी दूसरे अँगरेज़ उसपर पूरा भरोसा करेंगे, और वह योग्य हो या अयोग्य, उसको सब तरह से सहायता करने को कटिबद्ध रहेंगे। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे देश-वासी भी इसी प्रकार एक दूसरे पर भरोसा करने और सहायता करने को तैयार रहें। देश का वातावरण बड़ा शुद्ध हो जायगा। साथही, जिसको जो स्थान मिले, उसको यह भी धर्म समझना चाहिये कि जिस पत्तल में खाया, उसमें छेद न करें—अर्थात् जिस मालिक की नौकरी करे, उसे दगा न दे। हंडी के एक-दो चावल देखे जाते हैं। यदि किसी जाति का एक मनुष्य बेईमान निकला, तो उस व्यक्ति को तो कलंक लगेगा ही, साथ ही उसकी जाति पर भी लोग विश्वास नहीं करेंगे।

सारांश यह कि पाठशालाओं में देश-प्रेम सिखाना अत्यंत आवश्यक है। भजनों द्वारा तथा वीरों की कथा सुनाकर, अथवा देश-वासियों के गुणों की तरफ लक्ष्य दिखाकर, अपने देश का गर्व तथा उसमें प्रेम उत्पन्न कराना शिक्षा का ध्येय होना चाहिये। भिन्न-भिन्न जातियों, प्रान्त-वासियों या धर्मानुयायियों के पारस्परिक मनोमालिन्य को हटाकर उनमें प्रेम, सहानुभूति और विश्वास स्थापित करना सिखलाना ज़रूरी है। प्रत्येक बालक को ऐसी दीक्षा दी जावे कि उसे यह ज़ुबान जाय कि मेरे बुरे कर्मों से केवल मेरी ही हानि नहीं है, प्रत्युत हमारे देश-वासियों की बदनामी होती है। साथ ही, इतना संकीर्ण-हृदय भी नहीं होने देना

चाहिये कि वह अन्य देश-वासियों के गुणों को न पहिचान सके और न उनके अनुकरण का उद्योग करे । बालकों की चित्त-वृत्ति ऐसी कर देनी चाहिये कि देश में जो बुराईयाँ घुस गई हों, उनको निकालने का वे निरन्तर तथा साहस-पूर्ण प्रयत्न करें ; पर यह सब कुछ करते हुए भी यदि असर न हो, तो असहयोग न कर बैठें । बचपन में ऐसे भाव मन में भर जाने से बड़े होने पर वे स्वभाव-रूप में परिवर्तित हो जायँगे और इस प्रकार वे बालक एक दिन उत्तम प्रकार के नागरिक कहलायँगे ।



मातृभाषा में विचार प्रकट कर सकने का महत्व

प्रजातन्त्र-प्रणाली की रचना इस आधार पर है कि कोई भी मामूली आदमी इतनी मानसिक शक्ति रखता है कि समय पड़ने पर उचित-अनुचित का निर्णय कर सके। पुराने समय में राज्य-प्रणाली इस आधार पर नियमित थी कि राजकीय कार्य मामूली आदमी की समझ में नहीं आ सकते थे। राजनीति के प्रश्न केवल विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं, और अपनी राय दे सकते हैं। जैसा तुलसीदासजी ने कहा है कि 'ढोल, गँवार, सूद, पसु, नारी ; ये सब ताड़न के अधिकारी।' इसी प्रकार राजनीतिक बातों में ताड़न के अधिकारी तो बहुतेरे, पर मत देने के अधिकारी विरले ही मनुष्य समझे जाते थे।

परन्तु जब प्रजातन्त्र-प्रणाली का उद्गम हुआ, तब सिद्धान्त यह निकाला गया कि प्रत्येक वोटर (मतदाता) इस योग्य है कि बड़े-बड़े महत्व के प्रश्नों को वह समझ सके। पार्लियामेंट, कौन्सिल, असेम्बली, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या म्युनिसिपैलिटी में भेजे हुए प्रतिनिधि अपना काम उचित रीति से करते हैं या नहीं, इसका निरीक्षण करना मतदाताओं का कार्य हो जाता है। जितने ही शिक्षित, योग्य और तीव्र बुद्धि वाले मतदाता होंगे, उतना ही सुचारु रूप से प्रतिनिधि लोग भी अपना कार्य कर सकेंगे।

मतदाताओं को, तथा जनता को भी, उचित प्रकार की राजनीतिक शिक्षा देना देश के प्रत्येक विद्वान का धर्म हो जाता है। जब तक जनता

को उचित प्रकार से शिक्षा न मिलेगी, तब तक वह निरीक्षण का कार्य किस प्रकार कर सकती है ? आज भी देखने में आता है कि म्युनिसिपल बोर्ड तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में जो प्रतिनिधि जाते हैं, उनके कार्य की समालोचना करने की मतदाताओं की न इच्छा है, न संघ-शक्ति प्राप्त कर उनपर दबाव डालने की योग्यता। इस कारण ऐसी अनेक संस्थाओं में धाँधली मचने लगी है और कुछ मेम्बरों को 'बालाड़-याप्त' (बाहरी आमदनी) की फिक्र लग गई है। जब तक जनता सुशिक्षित तथा समालोचना में तत्पर न हो जाय और संघ-शक्ति न प्राप्त कर ले, तब तक प्रजा-तन्त्र-प्रणाली चलाने में जोखिम है और प्रजा को कोई लाभ नहीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जनता की शिक्षा किस प्रकार से हो सकती है और उसे वह इन समय पूर्ण रूप से क्यों नहीं प्राप्त हो रही है। एक मुख्य कारण तो यह है कि स्कूलों तथा कालेजों में अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा देने की प्रणाली के बलवान होने और मातृभाषा पर विशेष लक्ष्य न होने से प्रायः जितने विद्वान तथा योग्य पुरुष देश में हैं, उनकी योग्यता विदेशी भाषा में तो अधिक और मातृभाषा में न्यून रहती है। उनके विचार भले ही परिपूर्ण हों, परन्तु उनके ज्ञान का लाभ जनता को सुगमता से नहीं मिल रहा है। उन विद्वानों की विद्या प्रायः उन्हीं में लुप्त हो जाती है। यहाँ तक कि उन्हीं के घर की स्त्रियाँ तथा बच्चे अथवा नौकर, जो अँगरेज़ी नहीं जानते, उनके ज्ञान का लाभ नहीं उठा सकते। जब उनसे कहा जाता है कि जनता को शिक्षा क्यों नहीं देते, तो बहुधा उत्तर मिलता है कि हमें देशी भाषा में बोलने या लिखने की आदत नहीं है। ऐसी विद्या तथा ज्ञान का क्या लाभ, जिससे निकटस्थ जन तथा जनता को लाभ न हो ? इससे यह बात निश्चित होती है कि अब शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिये, जिससे

हर-एक व्यक्ति अपनी मातृभाषा या देशी भाषा में योग्यता प्राप्त कर सके और लिखकर अथवा व्याख्यान देकर दूसरों को लाभ पहुँचा सके।

गत पचास-साठ वर्षों में हिन्दुस्तान में ऐसे अनेक विद्वान हुए, जिनकी अँगरेज़ी की योग्यता उत्तम प्रकार की थी और जो इंगलिस्तान के अच्छे-अच्छे विद्वानों से उन्हीं की भाषा में टकर ले सकते थे। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाल मोहन घोष, कालीचरण बनर्जी, सर फिरोजशाह, मेहता तथा पं० विशननारायण दत्त, अँगरेज़ी भाषा के अच्छे वक्ता हो गये हैं; उनकी वाणी में मोहन मन्त्र-सा भरा था। उनकी योग्यता इंग्लैंड में भी चमत्कार दिखलाती थी। मुझे इनमें से कई विद्वानों के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतएव मैं कह सकता हूँ कि इनकी अँगरेज़ी की योग्यता की जितनी तारीफ़ की जाय, थोड़ी ही है। इसी प्रकार, इस देश में रानाडे-सरीखे अर्थशास्त्री, गोखले-सरीखे राजनीतिज्ञ एवं गणित-शास्त्रज्ञ तथा सर जगदीशचन्द्र बोस-सरीखे वैज्ञानिक हुए हैं, जो किसी भी देश में परमोच्चासन के अधिकारी समझे जा सकते हैं। परन्तु इतने विद्वानों के होते हुए भी भारत की जनता को उनकी विद्वत्ता से क्या लाभ हुआ और उनका प्रभाव जनता पर कितना हुआ? इसका कारण यही है कि ये सब केवल अँगरेज़ी भाषा में ही बोल या लिख सकते थे और इसीलिये इनके ज्ञान का लाभ केवल थोड़े-से अँगरेज़ी जानने वालों को ही हुआ; शेष देशी भाई उस लाभ से वंचित ही रहे।

इसी देश में दो-चार ऐसे भी विद्वान हुए, जिन्हें मातृभाषा में बोलने का अभ्यास पड़ गया—जैसे महात्मा गान्धी, पण्डित मदनमोहन मालवीय, स्वर्गीय लोकमान्य तिलक और स्वर्गीय लाला लाजपत राय। देशी भाषाओं में अपने उपदेश दे सकने के कारण ही जनता पर इन लोगों का प्रभाव कहीं अधिक पड़ा और अभी तक पड़ रहा है। लोकमान्य तिलक देश के

हृदय-सम्राट हो गये। १० मदनमोहन मालवीयजी भी हिन्दुस्तान के प्रभावशाली नेता माने जाते हैं। महात्मा गान्धी भी हिन्दी-भाषा में उपदेश देते हैं, इसलिये उनके उपदेश देश के कोने-कोने में पहुँच जाते हैं।

इतने ही से पाठक-गण देशी भाषाओं का महत्व समझ लें। इस नवीन युग में जो मनुष्य किसी देशी भाषा में प्रवीण नहीं है, उसका यथार्थ नेता बनना प्रायः असम्भव-सा मालूम होता है।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि पाठशालाओं तथा यूनिवर्सिटियों में अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा न दी जावे, अथवा विद्यार्थिगण उस भाषा में योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा न करें। अँगरेज़ी भाषा का महत्व केवल इसी कारण नहीं है कि वह राज-भाषा है, प्रत्युत वह ऐसी भाषा है कि जिसके जानने से एक विस्तोर्ण साहित्य और ज्ञानकोष हस्तगत हो जाता है। सिवा इसके उस साहित्य में ऐसे भी रत्न भरे पड़े हैं, जिनको पाकर मनुष्य के हृदय से गुलामी दूर भागेगी और उसकी मनोवृत्ति स्वतन्त्रता की तरफ़ दौड़ेगी। यदि हिन्दुस्तानी लोग यह चाहते हैं कि हमारे देश में स्वतन्त्रता के भाव जाग्रत होते जायँ, तो वे अभी बहुत दिनों तक अँगरेज़ी भाषा का अध्ययन कम न करें। इस भाषा के जानने से तीसरा लाभ यह है कि हम अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका आदि देशों के लोगों से अपने विचारों का परिवर्तन और भावों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। इतना ही नहीं, उन देशों की यात्रा भी सुगमता-पूर्वक कर सकते हैं। योरप-महाद्वीप में यद्यपि फ्रेंच-भाषा का महत्व और प्रभाव अधिक है, तथापि अँगरेज़ी जानने वाला अपना काम थोड़ा-बहुत वहाँ भी चला सकेगा। इन सब लाभों के कारण कोई भी देश-प्रेमी यह सलाह न देगा कि भविष्य में लोग इस भाषा को तिलाञ्जलि दे दें।

अलबत्तः मातृभाषा का तिरस्कार या उसकी अवज्ञा किसी को सहा न होगी। जनता की शिक्षा के हेतु विद्वानों तथा नेताओं को देशी भाषाओं का सहारा दिन-प्रति-दिन अधिक ही लेना पड़ेगा और स्कूलों तथा कालेजों में इनको उचित स्थान भी देना पड़ेगा।

जनता तथा मतदाताओं की शिक्षा दो प्रकार से हो सकती है—एक तो पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, दूसरे व्याख्यानों तथा उपदेशों द्वारा। जनता को वश में लाने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य अपने विचारों को दूसरों के सामने बोलकर या लिखकर उत्तम प्रकार से प्रकट करे। जो वाग्मी है, वह हजारों मनुष्यों के बीच में बेधड़क खड़ा होकर अपने विचार प्रकट कर सकेगा और जनता पर अपना प्रभाव डाल सकेगा। उससे कहीं अधिक विद्वान वहाँ बैठा हो; पर उसमें यदि बोलने की शक्ति न हो, तो वह बैठा हुआ मुँह ताकता रहेगा—यदि बोलने का साहस भी करेगा, तो जीभ लथड़ा जायगी, मुँह से शब्द न निकलेंगे, विचार गड़बड़ तथा अधूरे प्रकट होंगे; नतीजा यह होगा कि वह समाज में मूर्ख समझा जायगा !

यह सत्य है कि कई मनुष्य उद्योग करने पर भी अच्छा बोल नहीं सकते; पर यदि वे लिखने में निपुण हैं, तो अखबारों, मासिक पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा अपने ज्ञान का प्रभाव फैला सकते हैं। परन्तु जिनमें इन दोनों गुणों में से एक भी नहीं, उनकी कोई कृद्र न करेगा—पाँचवें सवारों में भले ही रख दिये जायँ।

अभी तक अँगरेजी भाषा में अच्छे बोलने या लिखने वालों का विशेष मान होता था। परन्तु जैसे-जैसे जनता के हाथ में सत्ता आवेगी, देशी भाषाओं—और विशेषकर हिन्दुस्तानी—में बोलने और लिखने वालों की तूती बोलेंगी।

कौंसिलों में तथा सभाओं में वाग्मी किस प्रकार अपनी सत्ता बढ़ा लेता है, यह देखना हो, तो संयुक्त-प्रान्त की कौंसिल में पाठकगण जाकर देखें। श्रीयुक्त सी० वाइ० चिन्तामणि बड़े अच्छे वक्ता तथा बहस करने वाले हैं। उनके खड़े होते ही विपक्षिण बेतरह घबराते हैं। चिन्तामणिजी में प्रखर बुद्धि और प्रचण्ड तर्क-शक्ति है। वे तर्क-पूर्वक अपने विचार बेधड़क प्रकट करते हैं। कौंसिल में वैसे ही विद्वान् कई और सज्जन कदाचित् होंगे; परन्तु वाक्-शक्ति न होने से मुडभेड़ करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। चिन्तामणिजी अपनी इच्छा के अनुसार विवाद का रूप बदल देते हैं। उनके विपक्षियों पर जैसी बातती है, वे ही बनला सकते हैं। चिन्तामणिजी के, दुशाले में लपेटे हुए, सभ्य—परन्तु भीषण—तड़ाके ऐसे बैठने हैं कि विपक्षियों के पिर के बाल कहां गये, पता नहीं चलता। तुरा यह कि विपक्षियों में अनेक सज्जन समझदार, बुद्धिमान तथा विशेषज्ञ रहते हैं; परन्तु वाक्-शक्ति न होने के कारण मन मसोस कर रह जाते हैं।

राउंड-टेबिल कान्फ़रेन्स की पहली बैठक में भी, जो अभी हाल में लन्दन में हुई थी, यही देखने में आया कि पं० श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू ने अपनी वाक्-शक्ति के कारण वहाँ भी एक प्रकार का राजत्व प्राप्त कर लिया और उसमें जो कुछ भी सफलता प्राप्त हुई, उसका बहुत कुछ यश इन दोनों सज्जनों को मिलना चाहिये।

सार यह कि हम यदि भावी नागरिकों, अर्थात् विद्यार्थियों, को नवीन जीवन के उपयुक्त बनाना चाहते हैं, तो स्कूलों तथा कालेजों में हमारा विशेष लक्ष्य इस बात पर होना चाहिये कि विद्यार्थी मातृ-भाषा में उत्तम प्रकार से बोलना और लिखना सीखें। साथ ही, उन्हें वाद-विवाद करने का अभ्यास भी कराया जाय।



राष्ट्र-भाषा को चुनने और उसके विकास की आवश्यकता

भौगोलिक दृष्टि से, और सभ्यता की दृष्टि से भी, हिंदुस्तान यथार्थ में एक देश है। यद्यपि थोड़े-बहुत अन्तर लोगों के रहन-सहन, विचार आदि में देखे जाते हैं; परन्तु तो भी उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम कोने तक इस देश के निवासियों में—विशेषतः हिन्दुओं में—आचार-विचार, मनोवृत्ति तथा सभ्यता में बहुत-कुछ समानता है। केवल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। पुराने समय में संस्कृत-भाषा के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वान लोग विचार-विनिमय कर सकते थे। संस्कृत का अब वह महत्व नहीं रहा। आज-कल अँगरेज़ी भाषा उसका स्थान ले चुकी है।

अब यह प्रश्न उठता है कि अँगरेज़ी भाषा को ही राष्ट्र-भाषा क्यों न मान लें? अँगरेज़ी भाषा का महत्व पिछले पृष्ठों में बतलाया गया है; परन्तु तो भी यह भाषा संस्कृत के समान थोड़े-से ही लोगों में प्रचलित हो सकती है, जनता में नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि यह बहुत ही दूर-देश की भाषा है और इसके सीखने में बहुत समय तथा परिश्रम की आवश्यकता है। थोड़े-से चुने हुए मनुष्य उतना समय लगा और आवश्यक परिश्रम कर सकते हैं; पर साधारण मनुष्य के लिये यह दुर्लभ है। स्वराज्य के अधिकांश प्राप्त होने पर यह सम्भव नहीं कि लोग पूर्ववत् प्रयत्न कर इस भाषा का अध्ययन करें। अभी हाल ही में, अर्थात्

दस-पन्द्रह वर्षों में, यह बात देखने में आई है कि अब नवयुवकगण अँगरेज़ी भाषा में तल्लीन होकर अध्ययन नहीं करते और औसत शिक्षित जन को अँगरेज़ी दिन-दिन कमज़ोर होती जाती है। कारण यह है कि नवयुवक मातृभाषा की ओर कुछ अधिक ध्यान देने लगे हैं और विदेशी भाषा होने के कारण अँगरेज़ी भाषा की तरफ़ से उदासीन होते जाते हैं। भविष्य में यह भाव दिन-दिन प्रबल होगा।

मुगल-बादशाहत के समय उत्तर-हिन्दुस्तान के कायस्थ लोगों ने फ़ारसी भाषा के अध्ययन में वैसी ही तल्लीनता दिखाई थी, जैसी अभी हाल में अँगरेज़ी भाषा में हम लोग दिखलाते रहे। कायस्थ लोग फ़ारसी भाषा के इतने भक्त हो गये थे कि उसे 'ज़बाने-मादरी' (मातृ-भाषा) कहने लगे और हिन्दुओं की अन्य जातियाँ उन्हें आधे मुसलमान समझने लगीं। परन्तु तिस पर भी मुसलमानों में लालाजी की फ़ारसी की दिल्लगी उड़ाई गई। कायस्थों की जाति विलक्षण बुद्धि वाली है; परन्तु तो भी मातृभाषा न होने के कारण फ़ारसी के साहित्य में उसके विद्वानों का कोई प्रभाव न पड़ा।

वही हाल आज-कल के अँगरेज़ी-शिक्षितों का है। उनके अनेक प्रयत्न करने पर भी और तन-मन-धन से अँगरेज़ी भाषा का अध्ययन करने पर भी उनमें वैसी योग्यता नहीं आ सकती कि उनकी लेखनी का अँगरेज़ी-साहित्य में विशेष प्रभाव पड़े। अँगरेज़ लोग अपने क़ब्र में बैठकर 'बाबू इंगलिश' (हिन्दुस्तानियों की अँगरेज़ी) पर अट्टहास किया करते हैं। उनसे वात्सलाप करने पर वे लोग कबूल करते हैं कि अँगरेज़ी भाषा की जितनी योग्यता हिन्दुस्तानी लोगों ने प्राप्त कर ली है, उतनी दुनिया के कोई अन्य-देश-वासी अभी तक नहीं प्राप्त कर सके। बहुतेरे हिन्दुस्तानी इतनी अच्छी अँगरेज़ी लिखते या बोलते हैं कि उन लोगों को विस्मय होता

है। राउंड-टेबिल कान्फरेन्स के समय भारतीय प्रतिनिधियों की भाषा सुनकर इंगलिस्तान के विद्वान जन विस्मित हो गये। लेकिन फिर भी उनकी इतनी योग्यता न तो अँगरेज़ी साहित्य में स्थान पा सकती है और न देशी साहित्य में ही। यदि वे लोग किसी देशी भाषा की योग्यता प्राप्त करने में इतनी मेहनत कर लें, तो अवश्यमेव उनका प्रभाव देशी साहित्यों पर बहुत पड़ेगा।

यह देखने में आता है कि हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाओं की वर्णमाला सीखते ही विद्यार्थिगण एक-दो साल के भीतर सुगम पुस्तकें पढ़ने लगते हैं और तीन-चार साल में तो साहित्य में भी पदार्पण करते हैं। परन्तु अँगरेज़ी पढ़ने वाले पाँच-छ साल के उपरान्त भी बिना प्रश्न के नवीन पुस्तक नहीं पढ़ सकते, साहित्य में पैर रखना तो और भी कठिन है। इसकी ज़िम्मेदारी अँगरेज़ी वर्णमाला पर है, जो नियमबद्ध नहीं है। लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ और ही। जब तक शब्द पूर्व-परिचित न हों, तब तक उसे ठीक रीति से पढ़ना कठिन है। हम लोग शिक्स्तः उर्दू अथवा मारवाड़ी-लिपि की दिल्लीगी उड़ाया करते हैं। कारण, उसे ठीक-ठीक बाँचना कठिन पड़ जाता है; परन्तु अँगरेज़ी-लिपि ओर भी गई-बीती है।

इन सब कारणों से पाठकों को निश्चय हो जायगा कि अँगरेज़ी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। तो फिर प्रश्न उठता है कि यदि अँगरेज़ी नहीं, तो किस भाषा को राष्ट्रभाषा बनावें? इस विषय पर बहुत तो यही दीखता है कि हिन्दी-भाषा इस आसन के योग्य है। एक तो यह एक विस्तीर्ण क्षेत्र में बोली जाती है—संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपुताना और मध्यभारत में—इस-बारह करोड़ मनुष्यों की मातृभाषा है; और जहाँ की मातृभाषा दूसरी है, वहाँ के कई प्रान्तों में

भी इसको लोग बोल या समझ सकते हैं। यदि इसमें कुछ उर्दू के शब्द और मिला दिये जायँ, तो इस भाषा के समझने वाले पेशावर से कलकत्ते और नैपाल से हैदराबाद (दक्षिण) तक मिलेंगे। कोई भी यात्री इस भाषा के सहारे हिन्दुस्तान के दो-तिहाई हिस्से में अपना काम चला सकता है।

हिन्दी-भाषा में एक विशेष गुण यह है कि दो-तीन महीने के परिश्रम से अन्य-भाषा-भाषी लोग—जैसे बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती, पंजाबी, काश्मीरी आदि—इसको बोलना सीख लेते हैं। लिपि-विचार को छोड़कर कोई विशेष कठिनाई सीखने में नहीं पड़ती और यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य की सेवा प्रायः सभी प्रान्त के लोगों ने की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, गोविन्द गिल्ला भाई और लल्लूलाल गुजराती थे। पद्माकर तैलंग थे। पं० बाबूराव विष्णु पाण्डेकर, पं० लक्ष्मण-नारायण गर्दे, पं० नरदेव शास्त्री महाराष्ट्र हैं। पं० अमृतलाल चक्रवर्ती बंगाली हैं। लाला सन्तराम पंजाबी हैं। पं० हरिहर स्वरूप शर्मा कनाड़ी हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। केवल तामिल, तैलंगी, कनाड़ी और मलयालम् बोलने वालों—अर्थात् मद्रास अहाते और मैसूर के निवासियों—को हिन्दी सीखने में विशेष सुगमता नहीं होती; परन्तु वहाँ के सुपलमान लोग दूटी-फूटी हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं।

केवल मुसलमानों को इस मत में ले आना टेढ़ी खीर है। वे लोग न तो हिन्दी वर्णमाला और लिपि स्वीकार करने को तैयार हैं, न उर्दू छोड़ने को। नवीन युग में किसी एक जाति का दूसरी जाति पर अपनी भाषा आरुढ़ कराना राजनीतिक दृष्टि से अन्याययुक्त माना जाता है। इसलिये अभी कुछ समय तक तो इस भाषा के दो रूप स्वीकार करने ही पड़ेंगे—अर्थात् हिन्दी और उर्दू। यदि हिन्दी वाले संस्कृत-भाषा के शब्दों का

अनावश्यक उपयोग न करें और इसी प्रकार उर्दू-प्रेमी अरबी-फारसी के शब्दों की भरमार न मचावें, तो कुछ समय के उपरान्त ऐसी भाषा तैयार हो जायगी, जो दोनों पक्ष वालों को सुलभ होगी। अभी तो इन दो रूपों को मानना और उनसे काम चलाना ही पड़ेगा।

अँगरेज़ी-भाषा के भी इस समय दो रूप हो रहे हैं। एक तो वह अँगरेज़ी, जो ब्रिटिश-द्वीप में प्रचलित है और जिसे किंग्स इंगलिश कहते हैं—अर्थात् राजा की अँगरेज़ी। और, दूसरी वह, जो उत्तर अमेरिका में बोली जाती है, उसे याङ्की-इंगलिश कहते हैं। याङ्की-इंगलिश के हिज्जे, उसके उच्चारण तथा मुहावरे कुछ निराले ही हैं; परन्तु एक प्रकार की अँगरेज़ी समझने वाले दूसरे प्रकार की अँगरेज़ी समझ लेते हैं। यही हाल उर्दू और हिन्दी का भी होगा।

विकासवादी वैज्ञानिक डार्विन साहब ने विकासवाद के ग्रंथ में एक नियम सिद्ध किया है कि जीवन-संग्राम में वही प्राणी टिक सकता है, जो सक्षम है, असक्षम प्राणी का दुनिया में ठिकाना नहीं; थोड़े या अधिक समय में उसका नाश अवश्य होता है—‘दैवोपि दुर्बलघातकः।’ जो सिद्धान्त डार्विन ने प्राणियों के लिये निश्चित किये हैं, वही सिद्धान्त भाषाओं के लिये भी लागू हो सकते हैं—यानी जो भाषा सर्वाङ्ग-पूर्ण और अधिक उपयोगी होगी, वही जीवन की होड़ में टिक सकेगी। हिंदुस्तान की अनेक छोटी-छोटी भाषाएँ इस नियम के अनुसार लुप्त होकर प्रबल भाषाओं में लय होती जाती हैं। भविष्य में भी ऐसा ही होगा।

यदि हम चाहते हैं कि हमारी भाषा—अर्थात् हिन्दी, जीवन की होड़ में प्रबल हो, तो हमें इसको सक्षम बनाने का निरंतर उद्योग करना चाहिये। उसका साहित्य डबना बढ़ाना चाहिये कि राष्ट्रभाषा के योग्य

हो जावे और देश की किसी भाषा से न्यून न रहे । इस समय बंगाली, मराठी और गुजराती भाषाओं के साहित्य अधिक बढ़े-चढ़े हैं ; परंतु हिंदी भी शीघ्र गति से उन्नति कर रही है । हिंदी की नागरी-लिपि पढ़ने के लिये तो उत्तम है, पर दुत लेखन के लिये उतनी उपयुक्त नहीं है । यदि लिखने के लिये कोई विद्वान् दुत-लिपि का आविष्कार करें, तो भाषा का बड़ा उपकार होगा । शार्ट-हैंण्ड-रायटिंग (Short-hand-writing), टाइप-रायटिंग (Type-writing) और छापे के टाइप के जमाने में भी नागरी-लिपि में देर अधिक लगती और विशेष अड़चन भी होती है । गूढ़ विचार प्रगट करने के लिये यद्यपि हिंदी-भाषा उपयुक्त है, तथापि शब्द-भांडार कम होने के कारण गूढ़ विचारों को प्रगट करने में अँगरेज़ी की अपेक्षा सवाया या ड्योढ़ा समय और स्थान लगता है । हिंदी-प्रेमियों को चाहिये कि इन कमियों को शीघ्र ही हटाने का प्रयत्न करें । यदि इस भाषा में कोई कमी रह जायगी, तो भय है कि जीवन की होड़ में कहीं यह पीछे न पड़ जावे । यदि हिंदी या हिंदुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनाये रखना है, तो अन्य प्रान्तों के स्कूलों में भी इसका अध्ययन अनिवार्य करने का उद्योग करना चाहिये । जिस प्रकार फ़्रेंच-भाषा अपने अनेक गुणों के कारण, राज-भाषा न होने पर भी, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा हो गई है, उसी प्रकार हिंदी को भी अन्तर्देशीय भाषा मानी जाने योग्य बनाना चाहिये ।



नागरिकता के भावों की आवश्यकता

भूतकाल में इस देश के निवासियों में नागरिकता के भाव बहुत कम जाग्रत हो सके। राजा का कार्य राज्याधिकारियों को सौंपकर प्रजा के लोग निश्चित-से हो बैठे थे। वे यह समझते थे कि राज्य की चिंता राजा को होनी चाहिये—हमें तो वे जो हुक्म दें, उन्हें मानना अभीष्ट है। परन्तु प्रजातंत्र होते ही लोगों की चित्तवृत्ति में आवश्यक परिवर्तन होना चाहिये। यदि राज्य का भार प्रजा के हाथ में आने वाला है, तो जब तक जनता पूरी तरह से चिंता न करेगी, तब तक राज्य का काम चलना कठिन है। प्रजातंत्र राज्य में यदि क्राज़ीजी शहर के अँदशे में दुबले हो जाँय, तो यह लाञ्छन के योग्य नहीं, वरन् प्रशंसा के योग्य है। स्वराज्य में तो प्रत्येक नागरिक को शहर का या देश का अँदेशा क्राज़ीजी के समान होना उचित ही है।

नागरिकता के दो रूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह जानना ज़रूरी है कि हमारे हक क्या हैं। अधिकारिगण कौन-कौन-से कार्य न्याय-पूर्वक कर सकते हैं और कौन-से कार्य करना उनके अधिकार या कानून के बाहर है। बेगार लेना गैर-कानूनी है। मुलाजिमों का दस्तूरी माँगना अथवा उन्हें 'लांच' देना अनुचित है। पुलिस किसी को हिरासत में चौबीस घंटे से अधिक नहीं रख सकती, गिरफ्तार आदमी पुलिस को बाला-बाला जवाब देने से इनकार कर सकता है और कह सकता है कि हमारे वकील

से जवाब लो। पुलिस हिरासत में बंद लोगों को शारीरिक पीड़ा नहीं दे सकती—इत्यादि, जो हक रिआया के हैं, उनको सर्व-परिचित कराना शिक्षित जनों का धर्म है, और यदि कोई भी गैरकानूनी कार्रवाई किसी नागरिक पर होते देखे, तो अन्य नागरिकों का धर्म है कि पीड़ित मनुष्य की रक्षा और आततायियों का विरोध करें।

बहुधा देखने में आया है कि हिंदुस्तानी आदमी में सब्र की मात्रा अधिक है। यदि कुछ अत्याचार हो जाता है, तो सब्र कर जाते हैं—गम खा जाते हैं। कहते हैं कि ईश्वर आततायी को उसके कर्मों का फल देगा, हम क्यों सज़ा दिलाकर अपने मिर पर पाप का भार लें। मेरी समझ में दुष्टों को सज़ा दिलवा देने में कोई पाप नहीं है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है कि साधुओं की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना मेरा धर्म है और इसी कारण मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ। शास्त्रों में जो धर्म ईश्वर और राजा का दिया हुआ है, वही धर्म जनतावाद में नागरिकों का हो जाता है। और, यदि वे अपने धर्म का पालन न करेंगे, तो धर्मराज्य की स्थापना कैसे हो सकेगी?

रेल की यात्रा के समय अथवा बड़े-बड़े मेलों में ग़रीब आदमियों के साथ जो दुर्व्यवहार होता है, अथवा कहीं भी निर्बल लोगों पर अथवा स्त्री-बच्चों पर जो अत्याचार होते हैं, उन्हें देखकर यदि शिक्षितगण आँख मूँदकर अथवा कान में तेल डालकर बैठे रहें, तो उन्हें धर्मभीरु कहना पड़ेगा। राज्य में किसी प्रकार का अन्याय न हो, यह देखना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है और जब तक शिक्षित नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन न करेंगे, तब तक अशिक्षित जनता कुछ न कर सकेगी। इस प्रकार अन्याय रोकने के समय लोगों से बुरा भी बनना पड़ता है, कभी-कभी तो खटाई में भी पड़ना पड़ता है; परन्तु जो मनुष्य अपने ग़रीब देश-भाइयों

को अन्याय से बचाने का प्रयत्न नहीं करता, अथवा आँव में नहीं पड़ना चाहता, वह प्रजातंत्र-राज्य का नागरिक होने योग्य नहीं। सभाओं में जाकर व्याख्यान देने से देश-प्रेम नहीं झलकता। जो सच्चा देश-प्रेमी है, वह दूसरों की रक्षा के लिये स्वतः आपत्ति में पड़ना स्वीकार करेगा।

जो लोग सरकारी नौकरी में जाते हैं, उनके भाव बहुधा यह होते हैं कि अब हुकूमत करने को मिलेगी और दोनों हाथ में लड्डू रहेंगे। प्रजातंत्र देश में सरकारी नौकर प्रजा का नौकर है और उसकी सत्ता का मान तभी तक हो सकता है, जब तक वह कानून या नियम के अनुसार चलता है अथवा प्रजा के हित के लिये काम करता है। इस चित्तवृत्ति से जो काम करेगा, वही अधिकार पाने के योग्य है। जो मनचला है या जिसकी नियत पाकेट भरने की है, उसका मुँह काला कर लेना ही उचित है।

सरकारी नौकर के अधिकार यथार्थ में प्रजा के ही दिये हुए अधिकार हैं। इस कारण जनता का भी धर्म है कि उसके हित के लिये जो हुकम या नियम वह दे या बनावे, जनता उसका पालन करे। शहरों के चौरस्तों पर जो पुलिस-मैत्र खड़ा होकर मोटर, ताँगे और इक्के वालों को विशेष मार्ग से जाने का संकेत करता है, वह इसलिये नहीं कि उसका बड़प्पन लोगों को प्रभावान्वित करे; वरन् इसलिये कि गाड़ी-घोड़े टकरा न जायँ और लोगों की जान जोखिम में न पड़े। पुलिस-मैत्र का यह धर्म है कि नियम का पालन सबसे करावे और किसी की मुहब्बत न करे। जनता का भी धर्म है कि उसके संकेतों की अवहेलना न करे, वरन् शीघ्र बिना संकोच नियमों का पालन करे। और, यदि वह अपने कर्तव्य-पालन में ढील न करे, किसी की मुखबत न करे, तो लोगों को बुरा न मानना चाहिये, न उससे मुँहजोरी करनी चाहिये।

बहुधा देखने में आया है कि जब चुंगी वाले या टिकस वसूल करने-वाले या इसी प्रकार के कोई अप्रिय अधिकारी अपना कर्त्तव्य-पालन करने पहुँचते हैं ; तो लोग उनसे उलझ पड़ते हैं, तक्रार भी किया करते हैं। जब टिकस देना ही है, तो व्यर्थ वाग्युद्ध करने से क्या लाभ ? उस बेचारे मुलाजिम पर कोप-द्रष्टि करने से कौन-सा फायदा हो सकता है ? वह तो जनता की ओर से टिकस वसूल करता है, अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

देखने में आता है कि सड़क के किनारे का नल यदि कोई खुला छोड़ गया, तो पानी घंटों बहा करे, कोई राहगीर उसे बंद करने की चेष्टा न करेगा। व्यर्थ पानी बहने से एक तो उतना पानी खराब हुआ करे, और दूसरे शहर के स्वास्थ्य को हानि पहुँची। यदि इस प्रकार पानी खराब हुआ करे, तो शहर में पानी का टिकस बढ़ जायगा और इससे सारी जनता की हानि होगी। तो फिर क्या नागरिकों का यह धर्म नहीं है कि व्यर्थ पानी न खराब होने दें—जो निकले वही बंद कर दे ?

इसी प्रकार हमने अनेक बार देखा है कि बीच सड़क पर कोई पत्थर पड़ा हो, तो सैकड़ों राहगीर निकल जायेंगे ; पर शायद ही किसी को यह सूझता है कि इस पत्थर के कारण न जाने किस समय कोई एक्का, ताँगा या गाड़ी उलट जाय और मनुष्यों को चोट आवे। बहुधा लोगों के मन में यह भाव रहता है कि पत्थर उठाकर फेंकना सफाई करनेवाले मेहतर का काम है, हम क्यों उठावें। किन्तु, किसी की जान जोखिम में न पड़े, यह देखना तो प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, न कि केवल मेहतर का। पत्थर उठाकर किनारे कर देने से क्या हाथ घिस जायगा ?

प्रायः यह भी देखने में आता है कि सड़कों के किनारे बीमार या दुःखी मनुष्य असहाय पड़े हैं। हजारों मनुष्य पास से निकल जाते हैं ;

परन्तु बिरला ही कोई इस बात की चिन्ता करता हो कि इसको क्या दुःख है और कहाँ तक इसके दुःख का हम निवारण कर सकते हैं। यहाँ तक देखने में आता है कि तिलक लगाये, भस्म रमाये, माला जपते, ईश्वर का नाम लेते, मंदिर में दर्शनों के लिये जाते हुए लोग भी इन पड़े-गिरों की सुध नहीं लेते। समझते हैं कि 'राम खबरिया लैबै करिहै !'

इसी प्रकार, जब घर पर कोई रोगी या दुःखिया आकर खड़ा होता है, तो लोग कहते हैं कि हटाओ, कुछ दे दो। यदि उसे टालने की नीयत से पैसा दिया गया, तो उसमें पुण्य की मात्रा कहाँ से आई ?

प्रजातंत्र राज्य से प्रजा को तभी सुख मिल सकता है, जब प्रत्येक नागरिक अपना यह कर्त्तव्य समझे कि एक भी दीन-दुःखी हमारी निगाह में पड़े, तो उसके दुःख का निवारण करना हमारा धर्म है।

सच्चा भातृ-भाव जब तक न होगा, तब तक दुःखियों की सेवा उचित रीति से नहीं हो सकती। हमारे देश-वासियों के मन में दया की मात्रा बहुत अधिक है ; पर क्या ही अच्छा हो, यदि यह दया का भाव सेवा-भाव में परिणत हो जाय।

कहा जाता है कि प्रत्येक देश में वैसा ही राज्य होता है, जिसके योग्य वहाँ की प्रजा हो। इस कथन में बहुत-कुछ सत्यता है। यदि किसी शहर में सफ़ाई नहीं है, सड़कें खराब रहती हैं, स्वच्छ पानी नहीं मिलता और बीमारी वहाँ अपना घर बनाये हुए है, तो इसमें शक नहीं कि वहाँ की म्युनिसिपैलटी बेकाम है। परन्तु साथ ही यह भी कबूल करना पड़ेगा कि वहाँ के वोटर भी फिफ़डू हैं—अपना कर्त्तव्य नहीं जानते। कदाचित् कोई यह पूछे कि इसमें वोटर तथा जनता का क्या दोष है—वह कर ही क्या सकती है ? तो उत्तर यह है कि नगर के निवासी यदि अपना कर्त्तव्य-

पालन करें, तो इंतज़ाम में अवश्य सुधार होगा। सुधार के लिये लड़ना और अन्याय का विरोध करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। और, यदि अकेले कुछ नहीं हो सकता, तो लोगों को संघ-शक्ति प्राप्त कर उद्योग करना चाहिये। यदि किसी शहर के नागरिक संघ-शक्ति उपार्जन करके म्युनिसिपैलटी के अधिकारियों को उनकी दुर्बलता के कारण आड़े हाथ लेते रहें, तो म्युनिसिपैलटी का इन्तज़ाम फ़ौरन् ठीक हो जाय।

स्टेशन के टिकट-घरों में बहुधा यह देखने में आता है कि जो ज़बर-दस्त है, वह घुसकर अपना टिकट ले आता है। बूढ़े, कमज़ोर, बालक अथवा स्त्रियाँ बिचारी टक्कर मचाया करती हैं। उनकी पुकार कोई सुनता नहीं ! जिसने पुलिम-मैन को चड़ैनी दी, अथवा टिकट-वाहू को नगद-नारायण दिखा दिये, उसका काम जल्दी निपट जाता है। इस प्रकार का दृश्य पुराने समय में लोगों को भले ही सख्त हो गया हो; परन्तु अब बहुत खटकता है। प्रजातंत्र होने पर यदि लोग उदारचित्त न हुए—यदि बलवानों या धनवानों ने यह न समझा कि पहला हक़ स्त्रियों, बच्चों, निर्बलों और बूढ़ों का है—तो प्रजातंत्र होने से लाभ ही क्या हुआ ?

इङ्गलिस्तान के स्टेशनों में यह देखने में आता है कि ज्योंही कुछ आदमी टिकट-घर के पास पहुँचे कि उन्होंने एक लाइन बना ली—जिसे अँगरेज़ी में 'क्यू' कहते हैं—जो पहले आया, वह पहले टिकट लेने पायेगा और पीछे आनेवाला पीछे लेगा। कई भी पीछे आया हुआ मनुष्य धक्के देकर आगे न बढेगा। कई बार देखने में आया है कि कोई अमीर या सामर्थ्यवान मनुष्य पीछे आया और दूसरों ने इशारा भी किया कि आगे बढ़कर टिकट ले लीजिये, पर उसने इनकार कर दिया; क्योंकि जो पहले आया, उसका हक़ पहले है। इस नियम के विरुद्ध यदि किसी को अवकाश मिलता है, तो केवल स्त्रियों अथवा दुर्बलों को।

कमज़ोर की तथा स्त्रियों की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है, विशेष करके बलवानों का। यदि वे अपने बल का अनुचित लाभ उठावें, तो शर्म की बात है।

देहात में बहुधा देखने में आया है कि गरीब और अंत्यज लोग बेगार में पकड़े जाते हैं, बनियों से अथवा दूकानदारों से जबरदस्ती रमद ली जाती है; परन्तु गाँव के बलवान या सामर्थ्यवान लोग उनकी सहायता नहीं करते। यह भी देखने में आता है कि अफ़ग़ान सौदागर वसूली करने आते हैं, तो किसी का लोटा छीनते, किसी के घर में घुस जाते, अथवा किसी का तूलहा फोड़ते; गरज़ यह कि नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं। परन्तु दूसरे ग्रामीण विपद्ग्रस्त की सहायता को नहीं जाते! यदि एक ग्राम के निवासी एक करके संव-शक्ति प्राप्त करें और एक दूसरे की मदद करें, तो क्या मजाल कि काबुली या बिलोची इतना उपद्रव कर सकें। हिन्दुस्तान का अभाग्य है कि किनाराकशी की आदत लोगों में बहुत घर कर गई है और इस कारण यहाँ के निवासियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार हुआ करते हैं।

देशी राज्यों में, देशी पुलिस और अफ़पर रहने पर भी, कोई भी विदेशी आकर मनमाना अत्याचार कर जाता है और हम लोग देखते रह जाते हैं। 'अपन भला तो जग भला'—इस मन्त्र ने हम लोगों को कापुरुष और चरित्र-हीन बना दिया है। यदि आज दूसरे पर अन्याय होता है, तो कल हमारे ऊपर भी होगा—यह सिद्धान्त नागरिकों का होना चाहिये।

बहुधा यह देखने में आया है कि आततायियों के कारण यदि किसी मनुष्य या स्त्री का अनादर हुआ, तो समाज का कोप उन्हीं गरीबों पर पड़ता है। कई बिरादरियों में कायदा है कि यदि किसी व्यक्ति पर जूतों

का प्रहार हो जाय अथवा किसी स्त्री को कोई दुष्ट जन छेड़ दे, तो उन्हीं बिचारों को जाति-वहिष्कृत करते हैं। समाज के लोगों से यह नहीं सँपरता कि जिसने उपद्रव किया है, उसकी गोशमाली करें। एक व्यक्ति का अपमान समस्त जाति का अपमान है। दण्ड देने की चर्चा आते ही विरादरी के पञ्चों का पुरुषार्थ रफू-चकर हो जाता है। परन्तु जो दुर्बल और पीड़ित हैं, उन्हीं पर सारी तेज़ी दिखाई जाती है। 'मरे को मारा तो क्या मारा?' जो समाज अपने मनुष्यों की रक्षा नहीं कर सकता, उल्टे पीड़ितों को ही दण्ड दे सकता है, वह तो हिजड़ों से भी बदतर है।

सूरदासजी ने एक भजन में कहा है—

‘दसहूँ दिसा से दुसह दवागिन उपजी है यहि काल।’

इस समय भी देखने में मालूम होता है कि इस अभागे देश पर सब दिशाओं से दवागिन का प्रकोप हो रहा है। कहीं प्लेग सता रहा है, कहीं मलेरिया ने अड्डा जमा लिया है, कहीं इन्फ्लुएंज़ा मनुष्यों को बलहीन बना रहा है; कहीं राजयक्ष्मा यदि आसूदा लोगों को सता रहा है, तो हुक-वार्म गरीबों को बेकाम कर रहा है। अनेक रोग धीरे-धीरे अपना आसन दृढ़ कर रहे हैं। जैसे—कोढ़, राजरोग, आन्तरिक ज्वर और संग्रहणी। एक से बचे कि दूसरे ने धर दबाया। एक तो गरीबों को पेट-भर खाना नहीं मिलता, दूसरे इन सब दुश्मनों ने आकर घेर लिया है। सूरदासजी की पुकार, देश की आधुनिक दृष्टि से देखें तो, सत्य मालूम होती है। पिछले पैंतीस वर्षों में, केवल प्लेग से, एक करोड़ मनुष्यों से कम नहीं मरे! सन् १९१८ के इन्फ्लुएंज़ा में, कुछ नहीं तो, साठ से अस्सी लाख तक मनुष्यों के प्राण गये! मलेरिया हर साल पन्द्रह-बीस लाख आदिमियों की आहुति लेता है! राजयक्ष्मा दिन-दिन अपना ज़ोर बढ़ा रहा है।

जब यहाँ के निवासी चारों तरफ से इस प्रकार की कठिनाइयों में

पड़े हैं, तब नागरिक का क्या धर्म होता है ? अभी तक तो हम लोग अपने भाग्य को सराहा करते थे और कहते थे कि 'विधि का लिखा को मेटनहारा' या उर्दू के कवि इन्शा के वचन कह डालते थे कि "गनीमत है कि हमसूरत यहाँ दो-चार बैठे हैं" या कोई कहने लगता था कि "दुनिया नहीं अच्छी है, ज़माना नहीं अच्छा ।"

प्रजातंत्र होने पर इस प्रकार से 'किंकर्तव्य-विमूढ़' होकर बैठ रहने से काम न चलेगा—निरंतर उद्योग करने की आवश्यकता होगी । शिक्षित समाज को उचित है कि एक-एक आपत्ति को लेकर उसके मूल कारणों का अध्ययन करें और उससे लोगों को निवृत्त करने के लिये सत्तू बाँधकर पीछे पड़ें । भाग्य के भरोसे बैठे रहने से काम नहीं चलेगा ।

शासन-प्रणाली का एक सिद्धान्त यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य, स्त्री या बालक—जो हमारे देश में पैदा हुआ है—अमित मूल्य का है, और उसके सुरक्षित तथा सुखी रहने से ही देश का कल्याण है । अन्धे, लूले, कोढ़ी, पागल, रोगी आदि जितने निर्बल प्राणी हैं, वे देश पर भार-रूप हो जाते हैं । उन्हें आपत्तियों से बचाने के लिये उनके जन्म से ही उद्योग करना उचित है ; केवल गरीब माँ-बाप के भरोसे उन्हें न छोड़ देना चाहिये । एक-एक बच्चा जो पैदा हो, वह राज्य की दृष्टि से लाख मोहर का है और प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि उसे रोगों तथा मृत्यु से बचाने के लिये—उसको शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सुख देने के लिये—लगातार प्रयत्न करता रहे । जितनों की बन सके, उतनों की मदद करने में प्रत्येक नागरिक को 'बिना दाम को चैरो' बनने का अभिमान होना चाहिये ।

अमेरिका के प्रसिद्ध नागरिक विलवर फ़ोर्स ने जब देखा कि उस देश के हबशी गुलामों के ऊपर बड़ा अन्याय हो रहा है और वे पशुओं की

तरह बेचे-खरीदे जाते हैं, तब उसने उनकी सहायता में अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया—इतना आन्दोलन मचाया कि पृथ्वी के सब सम्भव देशों में इस अनाचार की ओर ग्लानि उत्पन्न हो गई। अन्त में अमेरिका से यह प्रथा उठा दी गई। उस आन्दोलन के कारण कुछ समय तक अमेरिका के गुलामों के व्यापारी तथा मालिक बड़े अप्रसन्न हो गये, उत्तर और दक्षिण युनाइटेड स्टेट्स में भयंकर युद्ध भी हुआ। पर अंत में विलवर फ़ोर्स को सफलता मिली, उनके जीवन का उद्देश्य सफल हो गया।

इसी प्रकार, एक फ़्रांसीसी पादरी की कथा है। उसके समय में फ़्रांस देश में यह प्रथा थी कि कोड़ियों को जबरदस्ती ले जाकर एज द्वीप में छोड़ आते थे। वहाँ कोई नीरोग मनुष्य नहीं जाने पाता था। इसका कारण यह था कि कोढ़ छुनहा रोग है और देश में कोड़ियों के रहने से रोग फैलने की आशंका थी। उस द्वीप में बिचारे कोड़ियों को किसी प्रकार का सुख नहीं था—न तो उन्हें भोजन मिला, न उनका कुछ इलाज होता। वहाँ अनेक दुःख पाकर वे बिचारे सड़-गलकर मर जाते ! फ़्रांसीसी पादरी को इनका दुःख असह्य मालूम पड़ा। उसने अपना जीवन इन्हीं रोगियों में व्यतीत करने की ठान ली। फ़्रेंच सरकार ने बहुत समझाया और धमकी भी दी कि लौटकर न आने पाओगे ; परंतु वह धर-द्वार छोड़ उस द्वीप में जा बसा और कोड़ियों की सेवा करने में निमग्न हो गया। खेद की बात है कि कुछ वर्षों के बाद उसे भी वह रोग लग गया और वह भी अनेक दुःख पाकर वहीं मर गया। ऐसे त्यागमूर्ति लोक-सेवक की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता।

इस देश में भी लाखों कोढ़ी हैं। विज्ञान के आविष्कारों से यह भी मालूम हो गया है कि इसका प्रसार बहुत-कुछ रुक सकता है, हिफ़ाज़त से रहने से छूत का बचाव भी हो सकता है। अभी तक कोढ़ से युद्ध करने

की चिंता किसी में जाग्रत नहीं हुई। कुछ विदेशी पादरी और मिशनरियोंवाली मेमें अलवक्तः इस काम में लगी हुई हैं।

इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि देश में जो विविध कारणों से पीड़ित लोग हैं, उनकी दशा का अध्ययन किया जाय ; उनकी पीड़ा के निवारण के हेतु शिक्षित समाज में से योग्य पुरुष तथा स्त्रियाँ अपना जीवन उनके उपकारार्थ व्यतीत करने को राजी हों। तभी धीरे-धीरे यह सब व्याधियाँ हटेंगी और जनता सुखी होगी।

महाकवि सूरदासजी ने एक भजन कहा है—

‘तजौ मन हरि-विमुखन को संग।

जाके सँग कुबुद्धि उपजत है, परत भजन में भंग॥

कहाँ होत पय पान कराये, बिप नहिं तजत भुजंग।

कागहि कहा कपूर चुगाये, स्वान नहाये गंग॥

खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूखन अंग।

गज को कहा न्हावाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग॥

पाहन पतित बान नहिं भेदत, रीतो करत निखंग॥

सूरदास प्रभु कारी कामरि, चढ़त न दूजो रंग॥’

ऐसे ही आधार पर अनेक लोगों का यह मत है कि दुष्ट दुष्ट ही है, वह सुधारने से नहीं सुधरता। कुत्ते की पूँछ बारह वर्ष बाँस की पोली नली में रक्खी जाय, तो भी टेढ़ी-की-टेढ़ी ही बनी रहेगी। सूरदासजी के उक्त भजन से भी यही मत प्रगट होता है।

परंतु, क्या यह बात सत्य है कि सुधार का प्रयत्न करने से मनुष्य सुधर नहीं सकता? यदि सज्जन पुरुष पापियों से दूर रहेंगे, तो पापी निस्संदेह पापी ही बने रहेंगे। परंतु, यदि सज्जन लोग उद्योग करें,

तो कुछ-न-कुछ असर अवश्य होगा । 'रहीम' कवि ने कहा है—

‘रसरी आवत - जात ते , सिल पर परत निसान ।’

अर्थात् रस्सी की रगड़ से कुछ दिनों में पत्थर भी घिस जाता है । तो मनुष्य क्या पत्थर से भी गया-बीता है कि इसपर सत्संगति और सदुपदेश का असर कुछ न होगा ? यदि मनुष्य हरि-विमुख अथवा दुरा-चारी हो जाता है, तो उसका कारण या तो मानसिक दुर्बलता है अथवा बुरी संगति है । सज्जनों का धर्म है कि पतित मनुष्यों को सुधारने का प्रयत्न करें, न कि उनसे विमुख हो जायें ।

योरप में पतित मनुष्यों अथवा स्त्रियों और बालकों को सुधारने का निरंतर प्रयत्न किया जाता है, और उसमें बहुत-कुछ सफलता भी मिलती है । इसी प्रकार का प्रयत्न इस देश में भी होना चाहिये ।

लाखों स्त्रियाँ समाज के दुर्व्यवहार के कारण पतित होकर दुर्व्यसन में पड़ रही हैं, और विधर्मी भी बन रही हैं । हजारों तथा लाखों बालक उत्तम शिक्षा न मिलने के कारण कुमार्ग में जा रहे हैं । क्या उनकी दशा देखकर शिक्षित समाज का सिर नहीं दुखता ? क्या वे इसके सुधार का आयोजन नहीं करेंगे ? प्रजातंत्र में निराशा-वाद के लिये स्थान नहीं है ।

सार यह है कि प्रजातंत्र-प्रणाली से जनता को लाभ तभी हो सकेगा, जब प्रत्येक देश-वासी में नागरिकता के भाव जाग्रत हो जावें ।



प्रजातंत्र-प्रणाली की कुछ आवश्यकताएँ

प्रजातंत्र-प्राप्त देश के निवासियों में स्वदेश-प्रीति तो होनी ही चाहिये, जनता के कर्तव्य और उसके अधिकारों का ज्ञान भी होना चाहिये। साथ ही, चित्त-वृत्ति ऐसी होनी चाहिये कि समाज अथवा देश-वासियों के उपकार में ही लोग अपना उपकार समझें और उनकी हानि में ही अपनी हानि तथा उनके हित के लिये भले-बुरे बनने को भी तैयार रहें। इतना ही नहीं, जिस बात को उचित समझें, उसे कहने में न चूकें—अगर हमारे मत के साथी मिलें तो वाह-वाह, न मिलें तो परवाह नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अकेले ही विपक्षियों से मुठभेड़ करने का हौसला रखे और हमेशा जनता को अपनी ओर खींचने का उद्योग करता रहे।

इसमें सफलता उसी को मिलेगी, जो दूसरों के कटाक्षों से अपने मन को दुःखी न होने देगा। इङ्गलिस्तान के उदार-दल के प्रसिद्ध नेता ग्लैड-स्टन साहब के बारे में एक कहानी है कि किसी समय कुछ मित्र उनके पास पहुँचे और उनसे शिकायत की कि आज कल इङ्गलिस्तान के अखबारों में आपकी बहुत निन्दा हो रही है। यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया कि “यदि यह बात सत्य है, तो मेरे साथ समवेदना न प्रगट करके आप लोग बधाई दीजिये। जब मुझ पर लोग इतना कटाक्ष करते हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि मेरे मत पर लोग विचार कर रहे हैं और मैं इस योग्य हूँ कि मेरी टीका की जाय; निकम्मे मनुष्य की कोई टीका नहीं करता।”

इस कथन से पता लगता है कि प्रजातंत्र-प्राप्त देश के लोगों की चित्त-वृत्ति कैसी होनी चाहिये ।

जनता सत्य मार्ग को एकदम कभी स्वीकार नहीं करती । पहले तो उदासीनता दिखलाती है ; फिर कटाक्ष पर उतारू होती है और अन्त में थोड़ा-बहुत स्वीकार करने को तैयार होने लगती है । जो मनुष्य सत्य का पक्ष लेकर खड़ा होगा, वह ऐसी आशा कभी न करे कि बात कहने की देर है—सब लोग उसे ग्रहण कर ही लेंगे । बात को बार-बार कहना होगा, अनेक रूप से कहना होगा, विद्वानों को समझाना होगा, मूर्खों को समझाना होगा, उदासीनता हटानी होगी, कटाक्ष सहने होंगे, गालियाँ सहनी होंगी ; तब कहीं सफलता प्राप्त होने का अवसर आवेगा । जब सफलता प्राप्त होगी, तब दूसरों को यश मिलते देखना होगा । जनता तथा देश-सेवा ठट्ठा नहीं है । सेवक की सब प्रकार से दुर्गति होती है । कभी आदर, कभी अनादर । जो इनकी परवाह न करे, सत्य मार्ग से विचलित न हो, अपने लक्ष्य को न छोड़े, निरंतर परिश्रम करने को तैयार हो, हतोत्साह न हो, एक उद्योग असफल होनेपर फिर दूसरा नया उद्योग शुरू करे ; वही देश को तथा जनता की सेवा कर सकता है । जो इतनी कठिन तपस्या कर सके, वही लीडर बनने के योग्य है । जो न कर सके, वह 'गीदड़' बनने में सन्तुष्ट रहे !

नवीन प्रणाली में वार्त्तालाप तथा वादानुवाद के द्वारा प्रश्न तय होते हैं । उनके समझने के लिये अथवा उनका ठीक निर्णय करने के लिये सब मतों को सुनने और उनपर विचार करने की आवश्यकता होगी । किसी व्यक्ति को धनहीन अथवा अल्पवयस्क देखकर किसी नेता को यह न समझ लेना चाहिये कि वह भला क्या बतला सकेगा । न-जाने किसकी बुद्धि में कित्त समय नवीन या सारगर्भित भाव उपज आवें । जो अच्छे

नेता हैं, वे प्रत्येक का कहना धैर्य के साथ सुनने को तैयार रहते हैं ; परन्तु जो अधीर हैं, वे दूसरों के मत को ठुकराकर अपने सहायकों को भी विपक्ष में कर देने हैं ।

नेता का धर्म केवल यही नहीं है कि अपने साथियों को मिलाये रहे, वरन् यह भी है कि विपक्षियों को अपनी ओर लाने का प्रयत्न करता रहे । नेता बनने में सफलता उसी को मिलेगी, जो विपक्षी को दुश्मन न समझे, दिल से उससे प्रेम रखे ; हमेशा इस विचार का कायल रहे कि विपक्षिण मतिभ्रम से विपक्ष में चले गये हैं—किसी-न-किसी दिन हमारे मत पर आ जायेंगे ; उनके लौटने का मार्ग कभी बन्द न होने दे । यदि विपक्षी उचित बात कहें, तो मानने को तैयार हो, और यदि वे कुछ झुकने को तैयार हों, तो खुद भी कुछ झुककर समझौता करने को तत्पर रहे । बहुधा देखने में आता है कि कह-सुन या लड़-भिड़कर जब दिल का अरमान निकल जाता है, तभी एक दूसरे की सुनने को लोग तैयार होते हैं । यदि मन का हौसला कुछ निकलने को रह गया, तो आग फिर भड़केगी । यही कारण है कि जनतावाद में विपक्षी को हर तरह से उद्योग करने और कहने-सुनने का मौका देना बुद्धिमत्ता समझी जाती है । यदि ऐसा करते समय विपक्षी अन्याय करे या अति कर जाय, खरी-खोटी या उचित-अनुचित बात कह जाय, तो बुद्धिमान नेता मन में मैल नहीं लाता ; क्योंकि इससे उसकी नहीं, विपक्षी की हानि होने लगती है ।

जनता शिक्षित हो या मूर्ख, उसमें कुछ-न-कुछ न्यायबुद्धि अवश्य रहती है । वह जब किसी पक्ष को अन्याय करते देखती है, तब उसकी ओर से उसका मन खिंचने लगता है । औरों की बात तो दूर रही, स्वतः अनीतिकारी का भी जोश जब कुछ कम हो जाता है, तब वह अपने किये पर मन-ही-मन शर्मिन्दा होने लगता है । ज़ाहिर चाहे कुछ भी कहे, मगर

फिर भी स्व-अंकुश के लगने से समझौते के लिये तैयार हो जाता है और आदि में जितना कुछ झुकने को तैयार होता, उससे कहीं अधिक झुककर विपक्षी का मत स्वीकार कर लेता है।

इसलिये जनतावाद में यदि कोई मत-प्रचारक दूरदर्शी है, तो वह विपक्षी को सब कुछ कहने-सुनने और करने-कराने का पूरा मौका देगा और उसकी गालियाँ सुनकर भी दिल में वैमनस्य न लायेगा, उलटा प्रसन्न होगा, घबराकर उद्योग न छोड़ देगा। तुनुकमिजाज अथवा पतले मिजाज वाले मनुष्यों के लिये ऐसे समाज में जगह नहीं है। वे तो कुम्हड़ की बतियों के समान हैं, जो उँगली दिखाते ही सुरझा जाती हैं।

उपर्युक्त कथनों से यह तो सिद्ध हुआ कि अब जो आगे बढ़ना चाहता है, उसे उद्योगी और अपने मत का पक्का होना चाहिये। दृढ़-संकल्प मनुष्य की जय होगी और दुलसुल-यक़ीनों का कोई प्रभाव न पड़ेगा। नेता को बड़े-बड़े महत्व के प्रश्नों पर तात्कालिक फैसले करने पड़ते हैं और जो दीर्घसूत्री है, अथवा जिसका निर्णय सुगमता से नहीं होता, अथवा जो अपना मत घड़ी-घड़ी बदलता है, वह किसी काम का नहीं समझा जाता।

इस देश में अच्छे-अच्छे विद्वान भी प्रारब्ध के भरोसे अधिक रहने हैं। वे उद्योग को जितना महत्व देना चाहिये उतना नहीं देते। जब कभी उनका उद्योग असफल हो जाता है, तब कहने लगते हैं कि ऐसा ही होने वाला था, हम क्या करें ! इस प्रकार की अकर्मण्यता से देश को हानि है। यदि उद्योग असफल हुआ है, तो उसका मतलब यही है कि फिर से उद्योग किया जाय और पिछले उद्योग में जो त्रुटियाँ रह गई हों, वे सब निकाल दी जायँ। यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः।

हिंदी के कवियों ने अपने उपदेशों से हम लोगों में इस प्रकार की

अकर्मण्यता कूट-कूटकर भर दी है। तुलसीदासजी के वचन तो बहुधा उल्लेख में आते हैं—

‘होइहैं सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा’ ॥

ऐसे ही और भी कवियों के वचन हैं। जैसे—

‘करम-गति टारे नाहिं टरै।’

‘विधि का लिखा को मेटनहारा।’

ताजुब की बात है कि इस प्रकार के निराशा-जनक वचन संस्कृत के पुराने साहित्य में बहुत कम मिलते हैं; परन्तु हिंदी तथा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य में भरे पड़े हैं।

मेरी समझ में तो यह आता है कि वर्तमान देशी भाषाएँ उस समय विकास को प्राप्त हुई हैं, जब कि देश की अवस्था गिरी हुई थी और लोगों के मन से आशा के अंकुर प्रायः नष्ट हो गये थे। संस्कृत के ग्रंथ उस समय लिखे गये थे, जब ‘आर्य-जाति’ उन्नति के शिखर पर थी और उसमें आगे बढ़ने का हौसला था। इस समय, जब कि आशा का डंका फिर पिट रहा है, तब क्या यह उचित है कि हम लोग निराशा-जनक वचनों को पूर्ववत् मान दें ?

यह भी देखने में आया है कि जिस मनुष्य को एक बार भी मलेरिया हो जाता है, उसके जीवन में निराशा तथा निरुत्साह की झलक विशेष मात्रा में दीख पड़ती है। जब से इस देश में मलेरिया आया है, तब से ‘आर्य-जाति’ धीरे-धीरे गिरती गई है और मुझे तो देशी साहित्य के इन वचनों में ‘मलेरिया महाराज’ का ही प्रभाव झलकता है। कदाचित् यह मलेरिया का ही प्रभाव है कि बहुधा लोग उत्साह-हीन दीख पड़ते हैं और उनके काम में धिस-धिस तथा शिथिलता देखने में आती है। बहुधा हिंदुस्तानी अधिकारियों के मुख से यह वचन सुनने को मिलता

है कि जैसा चला आया है, वैसा चलने दो, व्यर्थ की झंझट क्यों मोल लेते हो। इस चित्तवृत्ति के कारण हिंदुस्तानी इंतज़ाम में बहुधा ढीलापन देखने में आता है। प्रत्येक अधिकारी का यह उद्देश्य होना चाहिये कि जिस काम को हाथ में ले, उसको पहले से कुछ अच्छा ही करके दिखलावे—न तो वह स्वयं शिथिल हो, न दूसरों को शिथिल होने दे।

किसी संस्था का काम बिगड़ने से अनेक जनों की हानि होती है, और उस हानि का ज़िम्मेदार वह है, जो अपने कर्त्तव्य में झूकता है। 'भय बिनु होइ न प्रीति'—इस कहावत के अनुसार जब तक प्रत्येक अधिकारी अपने काम में वाजिब सख्ती न करेगा और आवश्यकता पड़ने पर कड़वा बनने को तैयार न होगा, तब तक उसके अधीनस्थ कार्यकर्त्ता अपने कार्य में चुस्त न हो सकेंगे। मान लिया जाय कि किसी बड़े अस्पताल का निरीक्षक बहुत सीधा है और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर अंकुश नहीं लगाता, तो उसका परिणाम यह होगा कि बीमारों के इलाज तथा सेवा-शुश्रूषा में शिथिलता आ जायगी और यह बीमारों पर बड़ी भारी क़ूरता होगी। नरम तबीयत के अधिकारी देश के यथार्थ हितकारी नहीं होते। हर-एक को कतरकर काम लेने में तत्पर होना चाहिये।



आत्मरक्षा और धर्मयुद्ध

पिछले पृष्ठों में यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि अपने से कमज़ोर लोगों की—विशेषतः स्त्रियों और बच्चों की—रक्षा करने में तत्पर रहे। परन्तु जो मनुष्य अपनी धोती नहीं सँभाल सकता, वह दूसरों की रक्षा अथवा सहायता क्या कर सकेगा ? गुजराती भाषा में एक कहावत है कि 'म्होटा साथे न्हानू जाय, मरे नहीं तो माँदू थाय।'—अर्थात् 'बलवान की बराबरी करने कमज़ोर जाय, तो यदि मरेगा नहीं, तो बीमार अवश्य होगा।' जिस मनुष्य में आत्मरक्षा की शक्ति अथवा हिम्मत नहीं है, वह यदि बीब-बचाव करने जायगा, तो उसे लेने के देने पड़ जायेंगे। इसे सिद्ध होता है कि कोई नागरिक यदि अपना कर्त्तव्य करना चाहता है, तो उसे आत्मरक्षा के योग्य बनना चाहिये—दूसरों से मुठभेड़ करने के लिये शारीरिक और मानसिक बल उपार्जन करना चाहिये।

जापान में जुजुत्सू व्यायाम सिखाया जाता है। उसका उद्देश्य यही है कि काम पड़ने पर कमज़ोर मनुष्य भी बलवान से टक्कर ले सके, उसे गिरा सके। एक समय था, जब लाठी और तलवार चलाने, कुश्ती लड़ने तथा पञ्जा लड़ाने में यहाँ के निवासी निपुण थे। यहाँ तक कि तलवार चलाने में यहाँ वालों का नाम दूर-दूर तक हो गया था। लाठी चलाने में अब भी हिंदुस्तानियों-जैसे होशियार आदमी दुनिया-भर में मिलना कठिन है।

परन्तु आत्मरक्षा के ये उपाय इस समय लोग भूलते जाते हैं—विशेषतः शिक्षित समाज के लोग। इसका परिणाम यह होता है कि पढ़े-लिखे लोगों को दंगे की आशंका होते ही दूर भागना पड़ता है, और यदि शुरू होने तक रह भी गये, तो बुरी तरह मार खाते हैं। लोगों की समझ में यह बस गया है कि शिक्षित तथा सभ्य मनुष्य गुंडों से अथवा लठैतों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं। कदाचित् यही कारण है कि प्रायः सभी शहरों में गुण्डों का रोज़गार चमक रहा है। वे लोग रईस महाजनों से धमकी देकर ज़बरदस्ती अपना टिकस वसूल करते हैं ! रईस महाजन उनसे दबते रहते हैं। तीस-चालीस वर्ष पहले गुण्डों का इतना ज़ोर बढ़ गया था कि प्रायः सभी जगह वे मनमानी करते थे, जूते मारने अथवा लठ चलाने की धमकी देकर खूब धन बटोरते थे। पुलिस की दहशत से अब उनका ज़ोर बहुत कम हो रहा है ; परन्तु फिर भी अनेक शहरों में 'गुंडा-राज्य' थोड़ा-बहुत कायम है ; जनतावाद के प्रबल होने और अधिकारिगण की सत्ता कम होते ही 'गुंडा-राज्य' फिर चैनन्य होगा, इसमें सन्देह नहीं।

आत्मरक्षा की शिक्षा लेना प्रत्येक नागरिक का जब ध्येय हो जायगा, तब तो 'गुंडा-राज्य' बल न प्राप्त कर सकेगा। जिसने जुजुत्सू व्यायाम देखा है, वह इस बात की गवाही दे सकेगा कि कमज़ोर आदमी भी उसके जानने से बलवान को गिरा सकता है। उसमें बुद्धि की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। इङ्ग्लैंड में पहले अपढ़ पुलिस-मैन लिये जाते थे ; परन्तु अब शिक्षित लिये जाने लगे हैं। परीक्षाओं द्वारा सिद्ध हुआ है कि जब शिक्षित मनुष्यों को आत्मरक्षा के उपाय सिखा दिये जाते हैं, तब वे दुष्ट-से-दुष्ट और हट्टे-कट्टे मुजरिमों से भी टक्कर ले सकते हैं। मानसिक योग्यता होने से आत्मरक्षा अधिक हो सकती है। अँगरेज़ लोगों में जो

अच्छे शिक्षित हैं, जैसे सिविल सर्विस वाले, अथवा प्रोफेसर आदि, वे लोग भी आवश्यकता पड़ने पर मुक्केबाज़ी कर सकते हैं, या किसी अन्य प्रकार से भी आत्मरक्षा करने को तैयार रहते हैं। हमारे देश-वासियों को भी चाहिये कि कुश्ती लड़ना, मुक्केबाज़ी करना, लाठी चलाना, तलवार चलाना आदि आत्मरक्षा के साधन अवश्य सीखें। जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह इस नवीन युग में रहने योग्य न होगा। 'समरथ को नहिं दोष गुसाई'। सामर्थ्यवान सब जगह सुखी रहता है।

बहुत वर्षों की बात है कि किसी समय एक शहर में दो रईस, जो आनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे, एक साथ हवा खाने ताँगे पर जा रहे थे। अचानक एक पुल के पास सात-आठ गुण्डों ने घेरकर ताँगे पर लट्ट जमाना शुरू किया। एक रईस, जो कुछ बूढ़े थे और पीछे बैठे थे, लकड़ी चलाना जानते थे। वह तुरन्त कूद पड़े और अपनी लकड़ी घुमा-फिराकर मुकाबला करने लगे। परन्तु दूसरे, जो आगे बैठे थे और नौजवान थे, ऐसे भागे कि पगड़ी और जूते सड़क पर रह गये और आप एक पुल के नीचे नाली में जाकर छिप रहे। वृद्ध रईस अकेले ही लड़ने रहे; उन्होंने मार भी खाई; परन्तु बदमाशों को दक्षिणा देते गये और अन्त में भगा भी दिया। जब रास्ता साफ़ हो गया, तब 'नाली के मरदार' नाली के बाहर तशरीफ़ लाये। उनके मोज़े और पायजामा कीचड़ में सन गये थे। चुपके से पगड़ी और जूते उठाकर ताँगे पर आ बैठे। घर आने पर लोगों ने पूछा भी कि आपने अपने साथी की मदद क्यों न की, तो उत्तर मिला कि भाई, मुझे तो अपनी इज्जत बचानी थी; यदि कहीं मार पड़ जाती, तो 'दो कौड़ी की' इज्जत रह जाती। कहनेवालों ने कह भी दिया कि तुम्हारी इज्जत तो तभी बह गई, जब साथी को जोखिम में छोड़ ऐसे भागे कि न जूते-पगड़ी की खबर और न कीचड़ का पशोपेश!

इस प्रकार की इज्जत रखने का खयाल लोगों में अब भी बहुत है। आप ही विचार कीजिये कि आत्मरक्षा करते हुए मार खा लेने से उस बूढ़े रईस की इज्जत में क्या फ़र्क़ आया ? इज्जत तो उसकी गई, जो दुम दबाकर भाग गया। साथी को जोखिम में छोड़कर चल देना, क्या मनुष्यत्व है ? वह किस मुँह से मजिस्ट्रेटी करते थे ! बलिहारी है उन विचारों की, जो आत्मरक्षा में भी 'आवरू गई' समझते हैं।

स्कूलों तथा कालेजों में आत्मरक्षा करना और साथियों की मदद करना अवश्य सिखलाना चाहिये। महात्मा गान्धीजी के आन्दोलन से एक लाभ तो अवश्य हो गया कि लोगों के मन से मार अथवा गाली खाने का भय निकलता जाता है !

उदाहरण तो बहुत छोटा है ; परन्तु लोगों की चित्तवृत्ति का संकेत अवश्य मिल जाता है। अस्पताल में यदि किसी का 'फोड़ा भी चिरता हो, या भारी घाव पर से पट्टी खुले, तो अनेक दाढ़ी-मुँछ-युक्त दर्शक घबरा जाते, अथवा मूर्च्छित हो जाते हैं। अगर उन्हें मलाई लगवानी पड़ी, तो वे ऐसे काँपते अथवा चिल्लाते हैं कि मानों तोप से उड़ाये जानेवाले हैं ! ऐसे लोगों से क्या आशा की जा सकती है कि वे तलवार चला सकेंगे, बन्दूक का सामना कर सकेंगे, अथवा सेना में भर्ती होकर देश की रक्षा कर सकेंगे ? अभी तक तो हम इस भरोसे रहते थे कि अँगरेज़-सरकार हमारी रक्षा करेगी। परन्तु स्वराज्य मिलने पर हर-एक व्यक्ति को, चाहे वह ब्राह्मण हो या वैश्य या शूद्र, देश-रक्षा के लिये लड़ने को तैयार ही नहीं, वरन् योग्य भी बनना होगा। और, इसकी पहली सीढ़ी यह है कि सब लोग मन को कड़ा करना सीखें।

कभी-कभी देखने में आता है कि ज़रा-सी चोट लगने से, या धक्के-मुक्के लगने से, या दुःखदायी समाचार मिलने पर, बाज़-बाज़ युवक भी

ऐसा हाय-तोबा मचाते हैं, मानों आस्मान फट पड़ा। वीर बालक कभी दूसरों के सामने आँसू न बहायेगा, छोटी-मोटी चोट की परवाह नहीं करेगा और दर्द होने पर भी उसे अलग बतलाकर धैर्य से दुःख सहन करेगा। पर जब युवावस्था के लोग तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बनाकर रोने-गाने का नाटक रचते हैं, तब उनकी मानसिक दुर्बलता पर तरस आता है। बेहतर हो कि ऐसे लोग मूँछें मुँड़वाकर घाँघरा-चूड़ी पहन लें !

हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों के समय यह देखा गया है कि दस-बीस मनुष्यों ने मिलकर किपी अकेले आदमी को मारा, औरतों पर भी वार किया और इपी में अपनी बहादुरी समझी। मारनेवालों के सहधर्मियों ने पीठ भी ठोंकी कि बड़े सवाब का काम किया ! अनेक स्थानों में पीछे से छुरे भोंके गये और इसमें भी वीरता मानी गई ! मुझे तो ऐसे उदाहरण सुनकर बड़ा दुःख होता है। जिस देश में केवल धर्मयुद्ध हुआ करता था, वहाँ का नैतिक पतन इतना हो गया कि दस आदमी मिलकर यदि एक पर वार करें, तो वह बहादुरी समझी जाती है—स्त्रियों तथा बच्चों पर वार करने में सियहगरी और छिपकर छुरी भोंकने में दोन की बन्दागरी !! एक थैले में दो बत्तन रहने से कभी खड़क जाते हैं, यह स्वाभाविक है। बीच-बीच में दंगे कभी-न-कभी हुआ ही करेंगे ; पर इस प्रकार के अधर्म-युक्त कृत्य हमारी सभ्यता का मुख काला कर रहे हैं।

फ़ौज़ी गोरों को हम लोग बहरी, पाशविक वृत्तिवाले तथा शराबी समझते हैं। किपी अंश में हमारी भावना ठोक भी है। परन्तु उनमें एक गुण देखा, जो अवश्य सराहनीय है। वह यह कि कई मिलकर एक को न मारेंगे। दो आदमी जब लड़ते हैं, तो बाकी सब घेरकर खड़े हो जाते हैं ; पर बीच में दस्तंदाज़ी नहीं करते। यही देखते हैं कि युद्ध निष्प्रमबद्ध

होता है या नहीं। शाबाशी ज़रूर देंगे और जब एक गिर जायगा, तो उसे उठाकर उसकी मरहम-पट्टी करेंगे, और फिर आग्रह करेंगे कि हाथ मिलाकर मित्र हो जाओ। हाथ मिलाने पर फिर वे युद्ध को भूल जाते हैं। मैंने उनका ऐसा व्यवहार उन हिंदुस्तानियों के प्रति भी देखा, जिनकी मुठभेड़ गोरों से हो जाती है। अलबत्ता: यदि नियम-विरुद्ध द्वन्द्व हो, तो सब बिगड़ पड़ते हैं। सार यह है कि उनमें धर्म-युद्ध के नियमों का पालन अधिक होता है।

हम लोगों को पूरा ध्यान इस बात का रखना चाहिये कि जीवन की होड़ में निर्वल का ठिकाना नहीं—वह स्वदेश में या परदेश में, हर जगह, कुचला जाता है। देवता भी बिचारे बकरे का ही बलिदान लेते हैं। सिंह का बलिदान कहीं सुनने में आया है? देशी राज्यों तक में कभी किसी अफ़ग़ान या सरहद्दी पठान पर ज़ोर-जुल्म नहीं होता और वे वहाँ भी चैन की वंशी बजाते हैं; मानों उन्हीं का स्वराज्य है। देशी राजा, देशी मुलाज़िम और देशी पुलिस अगर बेगार लेगी, तो अपने ही ग़रीब भाइयों से—तंग करेगी, तो अपने सीधे-सादे निवल देशी भाइयों को ही।

मैं चाहता हूँ कि पाठशालाओं में ऐसी शिक्षा दी जाय कि प्रत्येक बालक ऐसा बलवान और निडर नागरिक बने कि उस पर अन्याय करते सभी हिचकें। जिस प्रकार एक छोटा-सा प्राणी, अर्थात् चीता, अपने से दस-बीस-गुने भारी और सबल हाथी पर हमला करने में ज़रा भी संकोच नहीं करता, उम्मी प्रकार हमारे बालक भी ऐसी तेज़ तबियत के हों कि किसी से मुकाबला करने में न हिचकें। जब जनता का प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार का हो जायगा, तब अन्याय की मात्रा आप-ही-आप कम हो जायगी।

प्रजातन्त्र-राज्य यथार्थ में तभी सफल हो सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति को—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उच्च वर्ग का हो या नीच वर्ग का, सब को—सक्षम बनाने का उद्योग निरन्तर होता रहे। व्यक्तियों की शक्ति देश की शक्ति पर निर्भर है। एक-दो व्यक्तियों में भी शारीरिक, मानसिक या नैतिक दुर्बलता आ जाने से देश में दुर्बलता आ जाती है। इसलिये एक भी व्यक्ति का कमजोर होना देश के लिये हितकर नहीं है। योरोपीय महायुद्ध के समय इंग्लैंड-देश से ही—जहाँ की बस्ती साढ़े चार करोड़ थी—साठ लाख सिपाही तैयार हो गये। जर्मनी में—जहाँ की बस्ती पाँच-साढ़े-पाँच करोड़ थी—पच्चीस-अस्सी लाख तक सैनिक तैयार होकर युद्धमें गये। दोनों देशों में, जब मर्द युद्ध में चले गये, तो औरतों ने देश के अन्य कार्य—जैसे खेती-बारी करना, रेल या मोटर चलाना, दफ्तरों या कारखानों के काम करना इत्यादि—नब सम्हाल लिये।

हमारे देश में बत्तीस कोरड़ निवासी हैं। उनमें से कितनों में इतनी शारीरिक या मानसिक क्षमता है कि सैनिक बन सकें? कितनी औरतें हैं, जो काम पढ़ने पर अन्य कार्य सँभाल सकें? अभी तक हम लोगों का लक्ष्य इस ओर नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति को हर तरह से सक्षम बनाना चाहिये। हम तो इस भरोसे रहते थे कि अँगरेज़-सरकार काम पढ़ने पर रक्षा करेगी ही! परन्तु स्वराज्य मिलने से इसकी जिम्मेदारी हमारे सिर पर रहेगी। इसलिये हमारा ध्येय ऐसा होना चाहिये कि जहाँ तक बने, कोई भी व्यक्ति, मन से या शरीर से, दुर्बल न रहने पाये। जैसा गुरु गोविन्दसिंहजी ने कहा था कि “यदि मैं भेड़ को शेर से लड़ाऊँ, तभी गुरु गोविन्दसिंह कहाऊँ।” अतः प्रत्येक नागरिक को शेर-बल्बर बनाने का उद्योग शुरू होना चाहिये।

छोटे-छोटे बच्चों के हाँसले बढ़ाने से बड़े होने पर न जाने वे क्या कर

सकेंगे। उनके हाँसले को गिराना नहीं चाहिये। उनमें निर्दोष और जीवन-पूर्ण चंचलता तथा फुर्ती स्वाभाविक रीति से होती ही है और बहुधा वे साहस या जोखिम के कार्य करने को उतारू रहते हैं। जैसे—पेड़ों पर चढ़ना, तैरना, लम्बी मंज़िल तय करना, लाठी-बनेठी भाँजना या तलवार चलाना, गर्मी-सर्दी या पानी-बूँदी में निकल जाना आदि। ऐसे हाँसलों को रोकना या भूत-प्रेत आदि का भय दिला देना बुद्धिमानी नहीं है। अधिक रोकटोक होने से बड़े होने पर वे अकर्मण्य हो जायेंगे।

जहाँ पञ्चायत द्वारा काम शुरू हुआ कि यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक पञ्च या सभासद समय पर काम करने को हाज़िर हो। इनके समय पर न आने से कार्य सुगमता से नहीं निपट सकता; और जो कार्य घंटा भर में हो सकता है, उसमें दो-तीन घण्टे लग जाते हैं। समय पर काम करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है और उसका पालन करने से ही पञ्चायत द्वारा महत्वपूर्ण कार्य सुगमता से हो सकेंगे।

समय का मूल्य अभी तक लोगों में बहुत कम समझा जाता है। काशी-सरीखे पुण्य-क्षेत्र में तो यदि आठ बजे रात को भोजन का निर्मन्त्रण हो, तो समझ लिया जाता है कि दो बजे रात तक कहीं निपटारा होगा। भंग पीसने, उसके पीने और सुरूर आने में तथा चलने की चर्चा और तैयारी करने में सहज ही दो-चार घण्टे लग जाते हैं! बिचारा यजमान भले ही बैठा हुआ बाट देखा करे!

यही हाल बारातों तथा सभाओं आदि में सब जगह हुआ करता है। इस प्रकार के दीर्घसूत्री लोगों से कोई महत्व के काम नहीं हो सकते; दूसरों के कार्य में भले ही रुकावट पैदा कर दें।

पञ्चायत में या सभाओं में मुख्य विषय पर ही बातें करने का अभ्यास डालना बहुत आवश्यक है। इधर-उधर की बातें करने से

मुख्य विषय का निर्णय कठिन हो जाता है और समय भी नष्ट होता है । सभाओं के सभापति इस वास्ते नियत किये जाते हैं कि वार्तालाप तथा वादानुवाद नियमपूर्वक हों, खुराफ़ात बातें बीच में न आने पावें और फैसला जल्द हो । सभा चलाने की तथा पञ्चायत द्वारा प्रश्नों का निर्णय करने की शिक्षा जब बचपन से ही दी जायगी, तभी नागरिक लोग इन शैलियों से अपने कार्य उचित रीति से चला सकेंगे ।



ईमानदारी की आवश्यकता

एक अमेरिकन विद्वान् चीन-देश में जाकर बहुत वर्ष रहे। उन्होंने बड़ी बारीकी से वहाँ के लोगों का अवलोकन किया। वह एक दिन मुझसे कहने लगे कि 'वहाँ के निवासियों में अनेक गुण हैं। जैसे—निरंतर काम करने की शक्ति, सौदागरों की सचाई इत्यादि।' अन्त में यह भी बोले कि 'जब चीन जाग्रत हो जायगा, तब उत्तम-से-उत्तम श्वेतांग जातियों को भी चीनियों से टकर खाना कठिन हो जायगा। पर एक कपूर भारी है।' मैंने पूछा, सो क्या ? कहने लगे कि 'दू परे का पैसा हज़म कर जाना वहाँ एक मामूली बात है—विशेषकर मरकारी मुलाज़िमाँ और अधिकारियों में यह ऐब पाया जाता है। सौदागर लोग लेन-देन में तो मच्चे हैं ; पर जनता का पैसा हड़प कर जाने में न किसी व्यक्ति को दर्द है, न समाज को ख़याल है। ऐसा करने में उन्हें अपमान की आशंका भी नहीं रहती। पैसा खा जाने वाला तो अक्लमन्द समझा जाता है—और बेवकूफ़ वह, जो पैसा दे दे।' उदाहरण के लिये उन्होंने 'पीहो' नदी के एक पुल का दृष्टान्त दिया, जिसके बनाने के लिये चीनी सरकार ने कई लाख रुपये मंज़ूर किये थे। सरकार के पास स्टिमेन्ट आई, नक़शे आये, इंजिनियरों की रिपोर्टें आई कि पुल बन रहा है—पूरा होने को आया है—बन गया। यह भी रिपोर्ट आई कि लोगों की आमद-रक़्त शुरू है। ठीकेदारों के बिल आये, दाम भी चुका दिया गया। रसीदें भी पेश हो गईं। जनता के

चुने हुए लोगों के सार्टिफिकेट भी मिल गये कि पुल निहायत पुख्ता, चौड़ा और खूबसूरत बना है। सब कुछ हुआ ; पर कसर इतनी ही रही कि पुल नदारद—न कभी उसका आरम्भ हुआ, न अन्त ! अक्लमन्द लोग बीच ही में सब रुपये हज़म कर गये !

यदि निष्पक्ष भाव से इस देश का हाल देखा जाय, तो खेद के साथ कहना ही पड़ेगा कि दूसरों का पैसा हज़म करने में अथवा 'बालाई-याफ्त' की फ़िक्र करने में हम लोग चीनियों से बढ़कर तो नहीं हैं ; पर उनसे बहुत पीछे भी नहीं हैं। जहाँ कहीं देशी मनुष्यों के हाथ में सत्ता आ गई है, वहीं घूसखोरी, ख़यानत आदि का दौरा होता है। विधवाओं का धन हड़पना तो सनातन-धर्म-सा हो गया है। कहीं दस्तूरी की माँग है, तो कहीं नज़राने की। ज़मींदार किसानों से कुछ-न-कुछ दक्षिणा लेने की चिन्ता में लगा रहता है। पटवारी-राम भी बालाई-याफ्त (ऊपरी आमदनी) की फ़िक्र में रहते हैं। लहनदार महाजन एक-दो आँकड़े बदलकर कजखोर असामो से कुछ ज्यादा वसूल करने की धुन में लगे रहते हैं। दूकानदार से और कुछ न बनेगा, तो तराजू की डण्डी पर झटका लगाने की ताक में रहेगा। पंडितजी महाराज अण्ट-सण्ट बातें बतलाकर अनुचित दक्षिणा लेने में संकोच न करेंगे। यदि चुनाव में कोई उम्मेदवार मेम्बर बन गया, तो बस खासा रोज़गार खड़ा हो गया। सब जगह 'लूट का बाज़ार' गर्म है। ऐसे देश में सरकारी मुलाज़िम क्या किसी से पीछे रहनेवाले हैं ? कदम-कदम पर हक़, दस्तूरी, बख़्शिश की माँग होती है।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि सभी इस काम में लगे हैं। इसके विपरीत प्रत्येक वर्ग में अनेक सज्जन ऐसे भी हैं, जो सूखी रोटी खा और गङ्गा-जल पीकर संतुष्ट रहते हैं—अधर्म के पैसे की तरफ़

मन नहीं चलाते। ऐसे नर-रत्न प्रत्येक धन्वे में मिलेंगे। परन्तु फिर भी थोड़ी-बहुत लूट-खसोट हर पेशे में जारी है।

खेद है कि बहुत कम लोग ऐसे मिलते हैं, जो 'बालाइ-याफन' (बाहरी आमदनी) को सचमुच बुरा समझते हों। बेईमानी से पैसा बनानेवालों का, समाज में, निरादर या तिरस्कार भी नहीं होता। यदि चर्चा भ्रष्ट छिड़ी, तो उत्तर मिलता है कि गरीब आदमी हैं, किसी तरह अपना पेट पालते हैं! जो स्वयं बे-लाग-लपेटवाले हैं, वे भी तरह दे जाते हैं।

समाज का यह हाल है कि यदि किसी मनुष्य को तरकारी में टमाटो, शलजम या प्याज डालते कोई देख ले, तो वह 'दुर्गन्धा का कोप' दिखाने लगता है और कहता है कि यह मनुष्य बिल्कुल भ्रष्ट है, पतित है। पर वही मनुष्य यदि किसी विधवा या नाबालिका का गला बोंटकर उसकी जायदाद हड़प ले, या अपने मालिक को तबाह कर दे, या परोपकारिणी संस्थाओं का पैसा हज़म कर ले, तो समाज के किसी व्यक्ति के कानों में जूँ तक न रेंगेगी—उस व्यक्ति की इज्जत में न तो कोई फ़र्क़ आवेगा, न बिरादरीवाले चिल्ल-पों मचावेंगे। हिंदुस्तानियों के चलाये हुए बैंक, पुतलीघर या कारख़ाने में जाइये, अथवा म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्टबोर्डों के इन्तज़ाम को देखिये, अथवा ज़मींदारी या महाजनो के मुनीमों को देखिये, या ज़रा देशी रजवाड़ों की ओर लक्ष्य कीजिये—सब जगह, कुछ-न-कुछ धाँधली अथवा ढोल-ढाल ज़रूर सुनने में आती है।

प्रजातंत्र-प्रणाली से जनता को लाभ तभी होगा, जब समाज में बेईमानी से पैसा पैदा करनेवालों का तिरस्कार होता रहे, उन पर लाञ्छन लगता रहे, ठगनेवाले बहिष्कृत किये जाते रहें। साथ-ही-साथ इस तरह का भाव भी प्रबल होता रहे कि सार्वजनिक कार्यों के लिये टिकस या

चन्दे के रूप में जो धन इकट्ठा किया जाता है, वह पवित्र अमानत है— उसमें से एक कौड़ी भी बेजा खर्च करना भारी पाप है—उसका पूरा-पूरा हिसाब देना और उसका निःस्वार्थ भाव से उपयोग करना धर्म है ।

जब जनता को इन बातों का पूरा भरोसा होगा, तभी लोग अच्छी रकम दान देने लगेंगे, तभी सार्वजनिक संस्थाएँ उत्तम प्रकार से चलेंगी, तभी जनता का कल्याण भी हो सकेगा ।

इस देश में दानियों की कमी नहीं । कमी अगर है, तो दान का सदुपयोग करनेवालों की । इसी कारण देने के नाम से लोग खिंचते हैं, हिचकते हैं । जिस दिन हमारे कार्य-कर्त्ताओं में इन भावों का उदय होगा, जिस दिन अमानत के धन में खयानत करनेवालों को समाज की ओर से फटकार और तिरस्कार मिलेगा—जैसा कि वर्जित भोजन खाने-पीनेवाले का होता है, उस दिन हमारे देश के निवासी न-जाने क्या-क्या काम कर सकेंगे ।



मतदाता और प्रतिनिधि

प्रगतंत्र संस्थाओं में दो प्रकार के लोगों की स्थिति और परस्पर-सम्बन्ध पर विचार करने की आवश्यकता है—एक तो मतदाता और दूसरे उनके प्रतिनिधि । मतदाताओं का धर्म यह है कि महत्व के जो बड़े-बड़े प्रश्न उठते हैं, उनपर थोड़ा-बहुत विचार करें और यह भी जानने का प्रयत्न करें कि कौन-कौन मनुष्य उन प्रश्नों को अच्छी तरह समझता है । जिसे किसी खास विषय का अधिक ज्ञान हो, उसे ही प्रतिनिधि बनाने से संस्था को लाभ होगा । पता लगाने से मालूम होगा कि प्रत्येक महत्व के विषय पर कुछ लोगों ने अधिक छानबीन और विचार किया है । उदाहरण के लिये कुछ लोग ऐसे मिलेंगे, जिन्होंने अर्थशास्त्र का विशेष अध्ययन किया है । साथ ही, कुछ ऐसे भी मिलेंगे, जिनका मन स्थानीय संस्थाओं के चलाने के प्रश्नों पर अधिक लगता है अथवा उनका अधिक अनुभव है । कुछ तो ऐसे मिलेंगे, जिनका मन शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर अधिक दौड़ता है ।

चुनाव के समय मतदाताओं को यह देखना चाहिये कि किसकी योग्यता किस विषय में अधिक है । योग्य मनुष्य को चुनने से ही मतदाताओं, संस्थाओं तथा जनता को लाभ पहुँच सकता है । इसलिये उन्हीं को वोट देना चाहिये ।

यदि कोई मतदाता यह दावा करे कि हम सब प्रश्नों पर बुद्धिमत्ता

के साथ अपना मत दे सकते हैं, तो समझना चाहिये कि वह असम्भव दावा करता है। किसी में यह शक्ति नहीं कि महत्व के सब प्रश्नों पर अपना मत दे सके। न कोई ऐसा ही प्रतिनिधि मिल सकता है, जो सब स्थानों में योग्य निकले अथवा सब प्रश्नों के तय करने में सफल हो। किसी भी दो मनुष्यों की योग्यता एक-सी नहीं हो सकती। यदि कोई एक विषय में विद्वान् है, तो दूसरा दूसरे विषय में। कोई भी सब विषयों का पण्डित नहीं हो सकता। कोई प्रतिनिधि म्युनिसिपल बोर्ड के योग्य है, तो दूसरा डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के योग्य है। तीसरा यदि कौंसिल के लायक है, तो चौथा असेम्बली के।

चुनाव की प्रणाली इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि प्रत्येक मतदाता में इतनी विवेक-शक्ति तो भी है कि वह यह देख सके कि कौन उम्मेदवार किस आसन के योग्य वा अयोग्य है।

चुनाव के समय कई प्रकार के मतदाता देखने में आते हैं। एक तो वे हैं, जो यह समझते हैं कि हम प्रत्येक महत्व के विषय में फैसला कर सकते हैं, और प्रतिनिधि का केवल यह धर्म है कि हमारे कहने के अनुसार कमेटियों या सभाओं में अपनी बाँग दे दे। इस प्रकार के मतदाता प्रायः प्रतिनिधि की स्वतन्त्रता हरने की चेष्टा करते हैं। यदि प्रतिनिधि केवल डेलीगेट (बाँग देने वाला) बनकर जाने को राजी है, तो वह अपना आत्म-सम्मान खो बैठता है। कारण यह है कि सभा, कमेटी या कौंसिल में विपक्षियों के मत सुन कर ही मनुष्य अपना निर्णय कर सकता है, इसके पहले नहीं। यदि मतदाताओं के सिखाये डेलीगेट केवल उनके ग्रामोफोन बनकर रहेंगे, तो इन संस्थाओं का काम चलना कठिन होगा। राजनीति का नियम यह है कि वाद-विवाद के उपरान्त ही सभासद लोग किसी मत को ग्रहण करें और विवाद कम करने के निमित्त कोई मार्ग ऐसा

ढूँढ़ निकालें कि जहाँ तक बन पड़े, सबकी सहानुभूति से स्वीकार हो जाय । मतदाताओं को यह अवकाश नहीं मिलता कि विपक्षियों के आक्षेपों पर पूर्णतया विचार कर सकें, अतः उन्हें प्रतिनिधियों का विश्वास करना चाहिये । उनका हक इतना ही है कि योग्य मनुष्य देखकर उसे चुनें और अयोग्य को न चुनें ।

दूसरे प्रकार के मतदाता ऐसे होते हैं कि वे किसी निर्णय पर स्थिर नहीं रह सकते । अभी एक के लिये वोट देने को तैयार हैं, तो थोड़ी ही देर में दूसरे के लिये । इस तरह के कच्ची पेंदी के घड़े कभी इधर लुढ़कते हैं, कभी उधर । दुलमुल-यक़ीन 'वोटर' बड़े त्रासदायक होते हैं । उनकी बात का कोई भरोसा नहीं । उन्हें तो चाहिये कि मतदाताओं की फ़िहरिस्त से अपना नाम कटा लें ।

तीसरे प्रकार के वोटर और भी क्लेशदायक होते हैं । वे चाहते हैं कि जो मनुष्य उनका वोट चाहता है, वह ज़रा खुशामद तो करे । ऐसे लोग, मत देना है या नहीं, इस सम्बन्ध में अपने विचार साफ़-साफ़ नहीं बतलाते । या तो झूठी मुरब्बत के फन्दे में पड़ जाते हैं अथवा कुछ अधिक खुशामद चाहते हैं । इस कारण अन्त तक निर्णय नहीं होता कि यह हज़रत आख़िर करेंगे क्या ! कोई-कोई वोटर तो इतने पतित भाव के होते हैं कि जब तक उनको नगद-नारायण की भेंट न दी जाय, तब तक वोट देने का बचन भी नहीं देते ।

कुछ तो और भी गये-बीते होते हैं । वे किसी को छाती ठोंक-ठोंक कर बचन दे देते हैं कि हम आपकी तरफ़ अवश्य वोट देंगे । उनकी गाड़ी में बैठकर वोट देने भी जायेंगे और चुपके से किसी दूसरे के लिये मत दे आवेंगे । ऐसे दगाबाज़ों से ईश्वर ही रक्षा करें ! कुछ मतदाता ऐसे भी मिलते हैं, जो केवल बिरादरीवाले को वोट देना चाहते हैं, योग्यता की तरफ़ लक्ष्य नहीं करते ।

अलबत्ता अनेक सजन ऐसे वोटर भी मिलते हैं, जो उम्मेदवारों के साथ सच्चा और खरा बर्ताव करते हैं और ऐसे ही लोगों की मदद से योग्य प्रतिनिधि उचित आसन पर पहुँच पाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हो गया कि प्रजातन्त्र-राज्यों में मतदाताओं की ज़िम्मेदारी बहुत भारी है; और राज्य का कार्य चलाने के लिये अच्छे और योग्य प्रतिनिधि तभी चुने जायँगे, जब मतदाता-गण अपना अधिकार उचित रीति से उपयोग में लावेंगे। उनका सिद्धान्त तो यह होना चाहिये कि “जात-पाँत पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई”—जो निःस्वार्थ भाव से और योग्यता-पूर्वक जन-सेवा कर सके, उसी के लिये वोट हाज़िर है।

चरित्रहीन और अयोग्य मतदाताओं की संख्या अधिक होने से योग्य पुरुषों का निर्वाचन कठिन हो जायगा और फिर संस्थाएँ उचित रीति से नहीं चल सकेंगी।

इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि लोग अपने विचार साफ़-साफ़ कह देना सीखें, झूठी मुरावत के फन्दे में न पड़े रहें। ‘सखी से सूम भला, जो जल्दी दे जवाब’—इस कहावत के अनुसार, यदि किसी को वोट देना पसन्द नहीं, तो साफ़ कह देना चाहिये कि मैं आपको वोट नहीं देना चाहता। और, यदि वोट देना ही है, तो भी साफ़ कह देना ठीक है—फिर पशोपेश में पड़ना या बार-बार आप्रह की बाट देखना अच्छा नहीं। जिन्हें मेम्बरों के चुनाव—अर्थात् इन्तखाब—का अनुभव है, वे इस बात का समर्थन करेंगे कि दौड़-धूप करते-करते उनकी इन्तखाब क्या, अंतकाल तक की, नौबत पहुँच जाती है।

एक-दो वोटर हों, तो कोई बार-बार जाकर उनकी खुशामद करे, पर जब संख्या हज़ारों पर पहुँच जाती है, तब तो बिचारे उम्मेदवार को आफ़त

ही आ जाती है। फिर तुरा यह कि अनेक वोटर साफ़-साफ़ कहते भी नहीं कि वोट देंगे या नहीं, और यदि कह भी दें, तो भरोसा नहीं कि अपने वचन पर दृढ़ रहेंगे ! साफ़ इन्कार कर देने में कुछ रूखापन जरूर लाना पड़ता है ; पर ऊपर बतलाई हुई हरकतों से ऐसा रूखापन हज़ार दफे अच्छा है।

इस प्रकार के कड़ुए अनुभवों के मिलने से अनेक योग्य सज्जन अब उम्मेदवार होने को राज़ी नहीं होते। फल यह होता है कि उनसे भी हीन और अधिक स्वार्थी लोग मेम्बर हो जाते हैं। बाज़-बाज़ आदमी तो चढ़ौनी देकर और हज़ारों रुपये तक खर्च करके वोट प्राप्त करने में नहीं झुकते। वे भला कब निःस्वार्थ-भाव से मेम्बरी का कार्य करेंगे ? कहीं से तो वे खर्च की पूर्ति करेंगे ही। योग्य और आदरणीय व्यक्तियों के हट जाने और 'ऐरे-नोरे पँचकल्याणियों' के घुस जाने से संस्थाओं की तथा समस्त देश की बड़ी हानि हो रही है। मतदाता लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो उम्मेदवार योग्य और स्वार्थ-रहित है, वह खुशामद न करेगा, चढ़ौनी भी न देगा और न उसके पास खराब करने को समय है। शायद ही वह कोई लक्ष्मी-पुत्र हो। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ऐसा मनुष्य यदि प्रतिनिधि बनाकर भेजा जायगा, तो वह निस्स्वार्थ-भाव से सेवा भी करेगा।

जो हाल वोटों का है, वही अनेक मेम्बरों का भी देखने में आता है। जहाँ दस-बीस निस्स्वार्थ-भाव से तथा दत्तचित्त होकर अपना कार्य करते हैं, वहाँ पचास-साठ ऐसे मिलेंगे, जो इस ताक में रहते हैं कि मेम्बरी के आसन पर बैठने के कारण कुछ इज़्जत बढ़े, कुछ प्राप्ति भी हो, किसी रिश्तेदार की परवरिश हो, बिरादरी का अनुचित लाभ उठाया जाय, कार्य चाहे हो या न हो, देश का भी कल्याण हो या न हो। यदि कोई महत्व

का या ज़िम्मेदारी का प्रश्न आवे, तो बहुधा गैरहाजिर पाये जायँगे ; पर यदि किसी स्थान के लिये मुकर्ररी होने वाली हो या ठेका दिया जाने वाला हो, तो अपना जोड़-तोड़ लगाने को अवश्य पहुँच जायँगे । यदि मिनिस्टर ने या बोर्ड के अधिकारियों ने उनकी धींगा-मुश्ती स्वीकार न की, तो वे उन्हें निकालने की चेष्टा शुरू करेंगे और उनके कार्य में हर तरह से बाधा पहुँचाने की धुन में रहेंगे ।

एक प्रदेश में मैंने यह तमाशा देखा कि मिनिस्टर साहब के यहाँ, गर्मी के दिनों में, उनके सहायकों में से चार-पाँच एम० एल० सी०—जिनका नाम एक हिन्दी अखबार ने व्यंग-पूर्वक 'मलसिये' रक्खा था—“मान न मान, मैं तेरा मेहमान” बने ही रहते थे । मिनिस्टर के मत्थे खाना-पीना, सैर-सपाटे करना, उनके काम में दस्तन्दाज़ी करना, मिसिलें उठाकर देखना और पहाड़ पर गर्मी का मौसम बिताना, यही उनका टाइम-टेबिल था ! वे समझते थे कि हमीं लोगों ने इनको मिनिस्टर बनाया है, तो अब मिनिस्टर का काम यह है कि हमारी खूब खातिर करें और हमारे मत से ही डग-डग चलें । ज़रा सोचना तो चाहिये कि मिनिस्टर साहब यदि उन्हीं की खातिर किया करें, तो अपना काम कब करें, और यदि उनके मत्थे इस प्रकार के खर्च मड़ दिये जायँ, तो वे अलग वेतन पर कार्य करना किस प्रकार अङ्गीकार कर सकते हैं ?

जनतावाद में भी राजनीति की शिक्षा की जरूरत है—अलबत्तः यह राजनीति पुरानी नीति से भिन्न होगी ; पर कुछ-न-कुछ व्यापक नियम बनने की आवश्यकता है । और, उनके अनुसार न चलनेवाले मेम्बर तथा वोटर जब घृणा की दृष्टि से देखे जायँगे, तभी ठीक काम चलेगा ।

अँगरेज़ों में कायदा यह है कि जब कोई उनका मित्र उच्चासन पर आता है, जैसे—गवर्नरी पर ; तब वे जाकर उसके यहाँ विज़िटिंग-कार्ड

छोड़ आवेंगे या पत्र द्वारा मुबारकबादी देंगे। परन्तु, फिर जब तक गवर्नर साहब या अधिकारी स्वतः न बुलावें, वे कदापि उनके घर न जायँगे, और न वक्तू-बै-वक्तू जाकर उनका समय नष्ट करने की चेष्टा करेंगे। भोजनादि के लिये यदि बुलाये गये, तो कार्य समाप्त होते ही तुरन्त वापस आवेंगे। वे इस बात को समझते हैं कि उच्चाधिकारियों का समय बहुमूल्य है, उसे खराब करना अनुचित है। इसी प्रकार का व्यवहार वे लोग उन अधिकारियों के साथ भी करते हैं, जो उन्हीं के मत से निर्वाचित हुए हों। इतना ही नहीं, वरन् उनके कार्य में कोई बाधा भी न डालेंगे; और जब तक कमेटी, बोर्ड, कौंसिल आदि में या निजी तौर पर सलाह न माँगी जाय, तब तक अपना मत सुगमता से प्रगट भी न करेंगे। वे अधिकारी को अपनी न्याय-बुद्धि तथा विवेक-बुद्धि से संस्था चलाने का पूर्ण अवकाश देंगे और जब कभी उनसे मदद माँगी जायगी, तन-मन से देंगे।

जनता-प्रणाली में यदि कोई मनुष्य हमारे ही वोट से अधिकार या ओहदा पा गया हो, तो वह कुछ हमारा गुलाम नहीं हो गया। हमारा धर्म यह है कि उसे सफल होने का पूरा अवकाश दें, उसको अपनी न्याय-बुद्धि के अनुसार काम करने दें, अयोग्य मनुष्यों की कभी सिफारिश ही न करें, बात-बात में बुरा न मानें और स्वार्थी लोगों की उड़ाई हुई खबरों पर बिना सोचे-समझे विश्वास भी न करें। अभी विशेष आवश्यकता न होने के कारण हिन्दुस्तानी जनता का लक्ष्य ऐसे प्रश्नों की ओर नहीं गया है; पर अब इस तरफ विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है। जनता-प्रणाली तभी फलीभूत हो सकती है, जब नीति-सम्बन्धी व्यापक नियम बनाकर लोग उनका पालन करें और पाठ-शालाओं में बालकों तक को उनके पालन की शिक्षा दें।

पहले बतला चुके हैं कि प्रजातन्त्र-प्रणाली में मतमतान्तरों का संघर्ष

हुआ करता है और सब पहलुओं की देख-भाल करके तथा उचित मार्ग निकाल कर कार्य किया जाना आवश्यक है। प्रश्नों पर उचित प्रकार से निर्णय होने के लिये मतमतान्तर का होना बहुत आवश्यक है। विपक्ष में प्रबल और विद्वान् मनुष्यों के होने से कार्य करने में अधिकारियों को विशेष सफलता मिलती है। विपक्षी प्रबल होने से अधिकारिगण अपना कार्य फूँक-फूँक कर होशियारी से करने लगते हैं और विपक्ष के बलहीन होने से उनके कार्य में शिथिलता आने लगती है। इसलिये विपक्षियों को दुश्मन न समझना चाहिये; यथार्थ में वे सच्चे मित्र का कार्य कर देते हैं।

शास्त्रार्थ के समय बहुधा यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर यदि दयालु है, तो उसने पापियों तथा दुष्टों को क्यों पैदा किया। उत्तर यह दिया जाता है कि पापी और दुष्ट यदि दुनिया में न हों, तो पुण्यात्मा तथा सज्जन मनुष्यों के गुण किस प्रकार खिलेंगे। इसी प्रकार विपक्षियों के संघर्ष से पक्षवाले भी अपना कार्य उत्तमता से करने लगते हैं। प्रजातन्त्र-संस्थाओं में वादानुवाद, कटाक्ष, व्यंग, आक्षेप आदि हुआ ही करते हैं। कभी-कभी मुक्केबाजी की नौबत भी आ जाती है; परन्तु इस प्रकार के आक्षेपों से मन दुखी करके यदि कोई मनुष्य कार्य करना छोड़ दे अथवा विपक्षियों से व्यक्तिगत द्वेष करने लगे, तो यही कहना पड़ेगा कि उसने प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों को समझा ही नहीं। जिस प्रकार कि इंगलिस्तान की पार्लमेंट में देखा जाता है कि सभा-भवन में तो खूब झगड़े-तकरार हुआ करते हैं; परन्तु सभा-भवन के बाहर आते ही मेम्बर लोग सभा के झगड़े भूलकर पूर्ववत् मित्रता का व्यवहार आरम्भ कर देते हैं। इसी में उदारता है और ऐसी उदारता दिखलाने से ही प्रजातन्त्र-प्रणाली सफल हो सकती है।

कहीं-कहीं देखने में आया है कि कोई-कोई व्यक्ति विपक्षियों से इतने अप्रसन्न हो जाते हैं कि बोलना तक छोड़ देते हैं और कभी-कभी तो द्वेष इतना बढ़ जाता है कि द्वन्द्व-फन्द शुरू हो जाता है तथा विपक्षी को तबाह करने की कोशिश की जाती है। “छमा बड़न को उचित है, छोटन को उत्पात।” जो सचमुच बड़े हैं, वे ऐसा नीच कार्य न करेंगे, वरन् विपक्षी को भी अपना मित्र बनावेंगे। जिस प्रकार डाक्टर का छुरा मरीज़ को बहुत दुःखदायक होता है, परन्तु अन्त में व्याधि निकालकर उसे चंगा कर देता है; उसी प्रकार विपक्षी के कटाक्ष भी हमको चैतन्य और सुदृढ़ बना देते हैं। विपक्षी से द्वेष बढ़ाना वैसा ही अनुचित है, जैसा कि मरीज़ का डाक्टर से बिगड़ पड़ना।

उपर यह बतला चुके हैं कि धर्म-युद्ध की शिक्षा केवल रण-क्षेत्र के लिये ही नहीं है; वरन् प्रजातन्त्र-प्रणाली के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म-युद्ध के पालन की आवश्यकता है। निस्सन्देह यहाँ के नियम कुछ भिन्न होंगे। जैसे—स्थान पाने के लोभ से उम्मेदवार कभी ऐसा बचन न दे दे, जिसे वह पूरा न कर सके; अथवा विपक्षी के बारे में ऐसी कोई बात न कह दे, जिसे साबित न कर सके; या चुनाव के समय विपक्षी का मत खण्डन करते हुए उस पर व्यर्थ के व्यक्तिगत दोष न लगावे। चुनाव के समय देखा जाता है कि लोग अपने विपक्षियों पर व्यर्थ के कलंक लगाने लगते हैं और अनेक झूठे वायदे करते हैं। सम्भव है कि इस प्रकार की कार्रवाई एक बार सफल हो; परन्तु प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि दुनिया को वह एक ही बार बेवकूफ बना सकता है। कुछ मनुष्यों की आँखों पर हमेशा पर्दा पड़ा रह सकता है; परन्तु जनता की आँखों में कोई भी हमेशा धूल नहीं भोंक सकता। हाँ, मत का खण्डन अवश्य किया जाय; पर विपक्षी से द्वेष नहीं।

अन्त में यह भी कहना आवश्यक है कि जब तक किसी प्रश्न का निर्णय न हो, तब तक प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि अपने मत के लिये पूरा उद्योग करे। परन्तु एक बार बहुमत से किसी प्रश्न का जब निर्णय हो चुका, तब उसे विपक्षी को भी मानना ज़रूरी है। इस कारण कि हमारा मत स्वीकृत नहीं हुआ, अल्प मत वालों से असहयोग न शुरू कर देना चाहिये; वरन् जो कुछ तय हुआ है, उसको सर्वमान्य कराने में सहायता देनी चाहिये। इसी को अँगरेजी में 'डिसिप्लिन की बुद्धि' कहते हैं।

एक समय की कथा है कि कौरवों को यक्षों ने हराकर गिरफ्तार कर लिया। तब खबर मिलने पर पाण्डव लोग उनकी सहायता को दौड़े गये और छुड़ा लाये। युधिष्ठिर से पूछा गया कि कौरव तो आपके द्वेषी हैं, उन्हें क्यों मदद दो। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि आपस के मामले में हम केवल पाँच हैं और कौरव लोग सौ हैं; परन्तु बाहरी लोगों के लिये हमलोग एक सौ पाँच हैं।

अपने वंश के लिये जो श्रद्धा युधिष्ठिर ने दिखाई, वैसी श्रद्धा अल्प मत वालों को भी अपनी संस्था पर दिखलानी चाहिये।

मनुष्य के सिद्धान्त जितने ऊँचे हों, उतना ही अच्छा है। परन्तु उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि दुनिया कैसी है और किस प्रकार की प्रणाली चलाने में उत्तम प्रकार से कार्य हो सकेगा। आदर्श ऊँचे होने से ही कोई सफल नहीं हो जाता। मनुष्य-जाति के दोषों का विचार करके जो कार्य किया जायगा, उसी में अधिक सफलता मिल सकेगी। हाथी के दाँत दिखाने के दूसरे होते हैं और खाने के दूसरे। प्रजातन्त्र में खाने के दाँत देखने चाहिये, न कि केवल दिखाने के।

आत्म-शासन के सिद्धान्तों पर विचार

पंचायती कार्यवाहियों में विषय पर विचार किस प्रकार होना चाहिये, इस पर विचार करना तथा स्थानीय संस्थाओं के कुछ अनुभव दिखलाना आवश्यक है। इन्हीं के साथ उनके कार्यक्रम की उचित परिपाटी भी समझ में आ जायेगी।

किसी भी कमेटी, सभा आदि को आरम्भ करने के पहले एक सभापति नियत करने की आवश्यकता पड़ती है। सभापति का काम यह है कि विषय पर प्रत्येक मत का प्रकाश पड़ने दे, प्रत्येक मत को नियम-पूर्वक सभा में पेश होने दे, व्यर्थ समय खराब न होने दे, प्रत्येक वक्ता को क्रमानुसार बोलने का अवकाश दे, अनुचित व्यवहार या आश्लेष न होने दे और सभासदों को विषय के बाहर न बोलने दे। इसके सिवा उचित शीघ्रता से निर्णय करावे। उचित शीघ्रता का मतलब यह नहीं है कि किसी विषय पर पूर्णतया विचार न होने पर भी किसी भी तरह का फैसला दिया जाय; बल्कि मतलब यह है कि जब किसी विषय पर सब पहलुओं से विचारों का प्रकाश पड़ जाय, तभी सभापति फैसला होने दे। कुछ सभासद ऐसे भी होते हैं, जो संकोचवश बोलने को आगे नहीं बढ़ते। सभापति यदि यह देखे कि कोई सभासद बुद्धि में प्रौढ़ है और उसके विचार सुनने योग्य हैं, परन्तु संकोचवश चुप हो रहा है; तो उससे आग्रह करके अपना मत देने को कहे।

सभापति का निजी मत कुछ भी हो ; परन्तु आसन पर बैठते ही वह न्यायाधीश के समान हो जाता है । उसका काम यह नहीं है कि किसी पक्ष का पक्षपाती हो या किसी अन्य मत को अपने अधिकार से दबाये ; बल्कि यह है कि प्रत्येक मत को निष्पक्ष भाव से सभा के सामने रखे । परन्तु तो भी उसका यह कर्तव्य है कि वादानुवाद को इस प्रकार का रूप दे दे कि उपस्थित प्रश्न को सभासद पूर्ण रूप से समझ जायें ।

मान लिया जाय कि सभा में यह प्रश्न उठा है कि हिन्दुओं में अन्तर-जातीय विवाह की प्रथा कानून से स्वीकृत हो या न हो । तो, मुख्य प्रश्न केवल यह है कि समय की प्रगति को देखकर इस प्रकार के विवाहों की अनुमति देना उचित है या नहीं । ऐसे विषयों के उपस्थित होते ही अनेक लोगों का इस भ्रम में पड़ना संभव है कि इस कानून से सब हिन्दुओं को अन्तरजातीय विवाह करने पड़ेंगे । ऐसे अवसर पर सभापति को बतला देना उचित है कि प्रस्ताव इस बात का आग्रह करता है कि जो इस प्रकार के विवाह करना चाहें, उनको परवानगी दी जाय ; परन्तु जो न करना चाहें, वे बाध्य न किये जायें । प्रश्न केवल इतना ही है कि कुछ लोगों को इस विषय में स्वतन्त्रता दी जाय या नहीं । इस प्रकार मुख्य प्रश्न पर प्रकाश डालते रहने से व्यर्थ के भ्रम और वादानुवाद रुक जाते हैं और मति-भ्रम भी नहीं होने पाता । उपर्युक्त प्रश्न में ही, यदि कुछ ही लोगों को स्वतन्त्रता देनी हो, तो सम्भवतः कुछ लोग राजी हो सकते हैं । परन्तु यदि सबके लिये अनिवार्य हो, तो लोग घोर विरोध करेंगे ।

सभासदों के भी अनेक कर्तव्य हैं । प्रत्येक सभासद का कर्तव्य है कि सभापति की आज्ञा शिरोधार्य करे और उनके फ़ैसलों पर टीका-टिप्पणी न करे । सभासद को चाहिये कि जिस प्रश्न पर विचार होनेवाला है, उसपर अच्छी तरह अध्ययन करके तैयार होकर आवे । उसकी निगाह में

जो मुख्य बातें हों, उनको नोट कर ले ; सभा में सूक्ष्म रीति से भाषण करे और विषय के बाहर हरगिज न जाय । विपक्षिण जो कुछ कहें, उसे ध्यान और मानपूर्वक सुने । यदि विपक्षियों के कहने में कुछ तथ्य दिखे, तो उसे निस्संकोच स्वीकार करने को तैयार रहे । और, अन्त में ऐसा मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करे, जिससे अपना उद्देश्य भी न विचलित हो और विपक्षी लोग भी सन्तुष्ट हो जाँय । “न मिलने से आधी रोटी भली है”— इस कहावत के अनुसार यदि विपक्षी आधो-पौन बात भी मानने को तैयार हो, तो विद्वत्ता इसी में है कि उतना मानकर एक स्वर से प्रस्ताव स्वीकार करावे और भगड़ा तोड़ दे ।

सभा में जो कुछ निर्णय होता है, उसकी तामील करने का भार कार्यकर्ताओं पर पड़ता है ; और यदि वे जिम्मेदारी लेने को तैयार न हों, तो पंचायती सभा को उनके मत का आदर करना चाहिये । बहुधा देखने में आता है कि निर्णय यदि उत्तम भी है, तो कार्य करनेवाले उसकी तामील यथोचित रीति से नहीं कर सकते । फलतः निर्णय फलीभूत नहीं होता । कार्य-कर्ताओं को भी उचित है कि जो मन्तव्य स्थिर हों, उनकी तामील श्रद्धा-पूर्वक करें ; ऐसा न हो कि मतभेद होने के कारण पंचायत के फैसले को विफल बनाने की चेष्टा करें ।

सार यह है कि पंचायती शासन में प्रत्येक व्यक्ति के लिये दूसरे व्यक्ति का सम्मान करना आवश्यक है । और, समझा-बुझाकर काम निकालने से अधिक लाभ भी होता है । प्रत्येक मनुष्य में गुण और दोष दोनों रहते हैं । समझदार मनुष्य दूसरों के गुणों को देखेगा, उनका उचित उपयोग करके अपना काम निकालेगा और सफल भी होगा । मनुष्य-योनि में उत्पन्न होने से ही अच्छे-से-अच्छे मनुष्य में भी कुछ दोष या त्रुटियाँ आ ही जाती हैं । कालिदास ने ठीक कहा है कि—

‘एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्क.’

‘चन्द्रमा में अनेक गुण हैं और इस कारण उसका एक दोष उसके अनेक गुणों में लीन हो जाते हैं ।’ इसी भाव से कार्य करने में प्रजातन्त्र-प्रणाली लाभदायक हो सकती है ।

बहुधा देखने में आया है कि पंचायती सभाओं में कुछ सदस्य समय पर नहीं पहुँचते । यदि कोई उन्हें टोके, तो चिढ़ उठते हैं । कहने लगते हैं कि क्या हुआ, यदि थोड़ी देर हो गई । परन्तु वे इस बात का विचार नहीं करते कि उनके देर से आने के कारण दूसरों की—विशेषतः उनकी, जो समय पर आये हैं—सज़ा हो जाती है; और जो कार्य थोड़े समय में हो सकता है, उसमें अधिक देर लग जाती है ।

अनेक सज्जन प्रस्तुत विषयों का अध्ययन करके नहीं आते और सभा में जैसी लहर आई, वैसी राय दे देते हैं । इस कारण उनके मत का मूल्य बहुत कम रह जाता है । यही कारण है कि कभी-कभी ऐसी संस्थाओं में सदस्य लोग बिना सिर-पूँछ की बात कह डालते हैं, जो अनुसन्धान करने से मिथ्या निकलती है ।

सभासद का दर्जा बड़े महत्व का है और उसका मान बढ़ाना सभासदों के ही हाथों में है ।

ऐसा भी देखने में आता है कि कई लोग आसन ग्रहण करने के लिये तो बड़े उत्सुक होते हैं ; परन्तु वोट-भिक्षा करने के बाद जब आसन मिल गया, तो कार्य करने में आगा-पीछा करते हैं । अभाग्यवश कहीं-कहीं यह भी देखने में आता है कि सभासदों में भीतरी द्वेष होने के कारण एक-दूसरे पर छिपे-छिपे कतरनी चलाते हैं और परस्पर सहानुभूति नहीं रखते । ऐसी संस्थाओं में पार्टियाँ बन जाती हैं और वे एक दूसरे को गिराने की फ़िक्र में रहती हैं । प्रश्नों को तय करते समय प्रश्न के महत्व को नहीं

देखते, वरन् एक-दूसरे को नीचा दिखाने की धुन में कुछ-का-कुछ फैसला करा देते हैं। जहाँ इस प्रकार का द्वन्द्व चलता है, वहाँ की व्यवस्था दिन-प्रति-दिन बिगड़ती जाती है। यही कारण है कि कई शहरों में न सड़कें ठीक, न सफ़ाई का इन्तजाम ठीक, न प्रकाश और जल आदि की उचित व्यवस्था है। मेम्बर लोग आपस के झगड़ों में ऐसे तल्लीन हैं कि जनता के लाभ और हानि का उन्हें ध्यान ही नहीं है।

एक म्युनिसिपैलटी में देखा कि शहर के किसी नागरिक को सभासदों ने आग्रह-पूर्वक सभापति बनाया; परन्तु साल-दो-साल में ही अनेक मेम्बर उनको बदनाम कराने के लिये षड्यन्त्र रचने लगे और अन्त में सफ़ाई के मुलाज़िमों से मिलकर मेहतरों की हड़ताल करा दी। तीन दिन सारे शहर में गन्दगी के कारण लोगों के नाकों दम हो गया। इसके उपरान्त जब शहर के मतदाताओं ने कटाक्ष किया, तो वे मेम्बर लोग समझाने लगे कि क्या करें, सभापति महोदय बड़े निकम्मे हैं, उनका आचरण ठीक नहीं है, उन्हें निकालना चाहिये। एक मतदाता ने मेम्बर महोदयों को आड़े हाथों लिया, कहा कि सभापति यदि निकम्मे और बदचलन हैं, तो आप लोगों ने उन्हें सर्वसम्मति से चुना ही क्यों? अब उनमें जो कुछ त्रुटियाँ बताई जाती हैं, उनके जिम्मेदार आप ही लोग हैं। दूसरे मतदाता ने मेम्बरों से कहा कि आप लोग साँड़ों के समान लड़ते हैं और हानि होता है जनता की। किन्तु मतदाताओं के सब कुछ कहने-सुनने पर भी मेम्बरों के ढङ्ग वैसे ही बने रहे। कारण, मतदाताओं में न एकता थी, न संघ-शक्ति। 'वहीं रस्कार बेढंगी, जो पहले थी वह अब भी है।' वे लोग कुत्ते-बिल्लियों के समान लड़ते ही रहे।

एक समय मुझे किसी डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का सदस्य होकर पहली ही बार अधिवेशन में जाना पड़ा। मुख्य प्रश्न तय करने को यह था कि

पुराने सभापति की अवधि समाप्त हो गई है, कोई नया सभापति चुना जाय। पुराने सभापति के बारे में कुछ शिकायतें थीं और मेरी तथा कई अन्य सभासदों की यह राय थी कि पुराने सज्जन उस कार्य के अयोग्य हैं; इसलिये कोई दूसरा चुना जावे; परन्तु सभा में जाने पर दूसरे ही रंग के गुल खिले। सदस्यगण पीछे जो कुछ कहते रहे हों; परन्तु सामने सबने यही कहा कि पुराने महाशय ही फिर चुने जायँ, वे बड़े लायक हैं। खुद पुराने महाशय ने भी यहाँ तक कह डाला कि उस आसन पर बैठने का मुझे शौक नहीं है, आप लोगों का मुझ पर पूरा भरोसा हो और मुझसे पूर्णतया सहयोग करने को आप लोग तैयार हों, तो मैं इस आसन को स्वीकार करता हूँ, नहीं तो नहीं। मेम्बरों ने आश्वासन दिया कि आप पर हमारा पूरा भरोसा है और आप ही सभापति होइये।

मेम्बरों की सहृदयता का शीघ्र ही नमूना देखने को मिला। एक प्रश्न, जो थोड़ी ही देर में पेश हुआ, इस प्रकार का था—किसी लोकल-बोर्ड के एक मुन्शी का तबादला सभापति महोदय ने दूसरे स्थान में कर दिया था। कारण, उसके खाने-पीने तथा घूसखोरी की अनेक शिकायतें पहुँची थीं। सभापति ने अपनी ज़िम्मेदारी पर उसके तबादले का हुक्म दिया था और अब उन्होंने बोर्ड की मंजूरी के लिये उसे पेश किया था; किन्तु “प्रथम प्राप्ति मक्षिकापातः”—पहले ही कौर में मक्खी पड़ गई। तुरन्त ही दो-चार मेम्बरों ने तबादले का विरोध किया। सभापति ने हज़ार समझाया कि उसको बदलना आवश्यक है, लोकल-बोर्ड की बहुत बदनामी हो रही है और जब तक मुझे इस प्रकार तबादला करने का अवकाश न दिया जायगा, मैं सभापति की ज़िम्मेदारी नहीं ले सकता; परन्तु मेम्बर लोगों ने उनकी एक न सुनी। उनका हुक्म बहुमत से रह हो गया।

मैंने इस आधार पर कि अभी आप लोगों ने सभापति पर पूरा

भरोसा करने का वचन दिया है, आग्रह किया कि कुछ तो उनका कहना मानिये ; परन्तु वहाँ कौन सुनता था ! मेम्बर लोगों ने असहयोग की धमकी दी कि हमारी बात न मानी जायगी, तो हम लोग हस्तीफा दे देंगे । इस प्रकार की मनचली कार्रवाइयों से कौन-सी संस्था अच्छे रूप से चल सकती है ?

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर सहयोग-बुद्धि के कुछ नियम यहाँ विचारार्थ लिखता हूँ—

(१) किसी मनुष्य को कोई काम सौंपने के पहले उसकी अच्छी तरह जाँच कर लो । यदि वह अयोग्य हो, तो उसे मत चुनो । काम पड़ने पर रखे भी बन जाओ ।

(२) पर, जब कोई अधिकारी बहुमत से किसी स्थान के लिये चुन लिया गया, तब संघ के प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि उसका भरोसा करे, उसके कहने को मान दे ; और उसका कहना प्रसन्न न भी हो, तो भी उसका पालन तुरन्त करे ।

(३) उसके अधीन जो कार्यकर्ता रखे गये हों, उनपर कोई भी सभासद बाला-बाला हुक्म न चलावे, न अग्य किसी रीति से हस्त-क्षेप करे ।

(४) प्रत्येक व्यक्ति को आसन ग्रहण करने के पहले अपनी योग्यता देख लेनी चाहिये । यदि काम उससे नहीं सँभल सकता, तो साफ़ इनकार कर दे । अनेक मनुष्य अपनी योग्यता की ओर नहीं देखते ; उनके हौसलों का भी पारावार नहीं रहता । ऐसे लोगों के घुस जाने से संस्था की हानि होती है ।

हिन्दुस्तानियों का—विशेष करके हिन्दुओं का—मन बहुत कोमल होता है । जब किसी दुष्ट मनुष्य को सज़ा देने की नौबत आती है, तब

उनकी आत्मा काँप जाती है। बहुधा कमेटियों या जूरियों में देखा कि बुरे-से-बुरे काम करनेवाले का मामला जब सामने आता है, तब मेम्बर लोग उसे उचित दंड देने से हिचकते हैं। मैंने देखा है कि जूरियों के मन में अभियुक्त पर तो विशेष दया रहती है; परन्तु जो विचारा मारा गया है और जिसके घरवाले दुःखित हो रहे हैं, उन पर—आँखों के सामने न रहने के कारण—दया का भाव नहीं आता !

इसी प्रकार म्युनिसिपैलटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में जब सज़ा करने की आवश्यकता होती है, तब मेम्बर लोग जिम्मेदारी लेने से मुँह मोड़ते हैं। यह तो उचित है कि किसी भी मनुष्य के साथ अन्याय न हो और अनुचित कठोरता भी न हो; परन्तु यदि इतनी सज़ा न दी गई कि भविष्य में अभियुक्त अथवा दोषी ऐसा काम न करें, तो इन्तज़ाम बिगड़ जायगा। हिन्दुओं में 'अति दया' का भाव प्रबल होने के कारण इस जाति को समय-समय पर अनेक कष्ट भेलने पड़े हैं और अब भी भेलने पड़ रहे हैं। चाणक्य ने बहुत ठीक कहा है कि—“अति सर्वत्र वजयेत्” अति की मात्रा हर जगह दूषित है।

प्रजातन्त्र में यदि मत-भेद न हो, तो समाज या जाति जीवित नहीं कही जा सकती। विकास के लिये मत-भेद होना आवश्यक है और उसी के द्वारा सुधार हो सकता है। मत-भेद का अर्थ यह नहीं है कि जिन विषयों पर लोग एक-मत हैं, उनका कार्य करने में लोग सहमत न हों। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति का मत है कि शहर के बीच-बीच में खुली जगह रहनी चाहिये, तो दूसरे व्यक्ति भी उसके साथ सहमत होकर इसका उद्योग क्यों न करें कि जगह-जगह खुले स्थान रखाये जायँ ?

सार यह है कि जिन-जिन बातों में हम दूसरों से सहमत हैं, उन

बातों में उन लोगों से पूर्णतया सहयोग करने को तैयार रहें। यही नियम प्रजातन्त्र-प्रणाली के प्रत्येक क्षेत्र में माननीय होना चाहिये।

जब जयचन्द राठौर ने पृथ्वीराज से अप्रसन्न होकर मुहम्मद गोरी को बुलाया और हिन्दुस्तान में पठानों का पैर जमने दिया, तब वह इस छोटे-से सिद्धान्त को भूल गया। 'संयोगिता'-हरण के कारण जो वैमनस्य पृथ्वीराज से उत्पन्न हो गया था, उसके कारण हिन्दुस्तान की रक्षा करने में जयचन्द ने पृथ्वीराज को सहायता न दी। फल यह हुआ कि पृथ्वीराज का तो राज्य गया ही, जयचन्द को भी सब कुछ खोना पड़ा। इस मन्दबुद्धिता के उदाहरण हिन्दुस्तान के इतिहास में भरे पड़े हैं।



राष्ट्रीयता की दृष्टि से जनता का स्वास्थ्य- सुधार और उसका महत्व

ऊपर कह आये हैं कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति नागरिकों की व्यक्तिगत शक्ति पर निर्भर है। जिस देश में सक्षम पुरुष और स्त्रियों का परिमाण अधिक है, वह उस राष्ट्र से कहीं अधिक बलवान हो जायगा, जिसमें सक्षम व्यक्तियों की संख्या का औसत कम होगा। राष्ट्र का बल बढ़ाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता बढ़ाने का उद्योग करना चाहिये।

यदि इस देश के निवासियों का इस दृष्टि से अवलोकन किया जाय और सब प्रकार के अक्षम मनुष्यों का लेखा लगाया जाय, तो औसत बहुत ज़्यादा हो जाता है। मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार की भी न्यूनता यदि आ जाय, तो जीवन की होड़ में वह पीछे पड़ने लगेगा और उसकी उपाजन-शक्ति तथा देश-रक्षा की शक्ति कम ही निकलेगी। यही कारण है कि पल्टन तथा पुलिस में भर्ती करते समय बड़ी सख्ती से जाँच करते हैं और जिस व्यक्ति में ज़रा-सी भी न्यूनता पाई गई, उसे भर्ती नहीं करते।

शारीरिक अक्षमता अनेक कारणों से उत्पन्न हो जाती है। किसी के कान से कम सुनाई देता है, किसी के नेत्रों की ज्योति मन्द है, किसी के दाँत खराब हो गये हैं, किसी का हृदय कमज़ोर है, किसी के फेफड़े उचित रीति से कार्य नहीं कर रहे हैं, किसी के आमाशय में वह शक्ति नहीं है कि भोजन को उचित शोघ्रता से रक्त में परिवर्तित कर सके, किसी के

पैर टेढ़े और कमर-पीठ धनुषाकार हैं, किसी की हड्डी पतली और कमजोर है—इत्यादि अनेक प्रकार की शारीरिक न्यूनताएँ हैं ।

जिसकी ज्योति मन्द है, वह अपने व्यापार में संकुचित होता जाता है । वह ऐसे रोजगार नहीं कर सकता, जिनमें स्पष्ट ज्योति की आवश्यकता हो । ग्लास-फ़ैक्टरी, बायलर या मोटर चलाने में तथा आत्मरक्षा करने में ऐसा मनुष्य थोड़ा-बहुत बेकाम हो ही जाता है ।

इसी प्रकार, जिसकी श्रवण-शक्ति उत्तम नहीं है, वह गाने-बजाने का आनन्द नहीं ले सकता, बात को जल्दी नहीं समझता ; और यदि दोष अधिक बढ़ गया हो, तो रास्ते में पीछे से आनेवाली मोटर या साइकिल की घण्टी सुनकर अलग नहीं हट जाता और ऐसी सम्भावना रहती है कि कहीं किसी दिन कोई दुर्घटना न घटित हो जाय ।

जिसके फेफड़े उचित रीति से कार्य नहीं करते, उसे किसी भी बीमारी के उपरान्त थाइमिस (राज्यक्षमा) हो जाने का भय रहता है और वह जन्म-भर बहुत कमजोर बना रहता है ।

जिसके आमाशय में भोजन पचाने की शक्ति नहीं, उसका मन मझीन और मुख कान्ति-विहीन हो जाता है ।

जिसके पैर पतले या टेढ़े हैं, वह देर तक खड़ा नहीं रह सकता और अधिक दूर चल-फिर नहीं सकता ।

इनमें से अनेक रोग ऐसे हैं, जो सावधानता रखने या फ़िक्र करने से पास फटकने नहीं पाते ; परन्तु इनकी चिन्ता विशेषतः बाल्यम में की जानी चाहिये । अधिकतर ये रोग माँ-बाप अथवा स्कूल के अधिका-रियों की उदासीनता से बढ़ जाते हैं और फिर जड़ पकड़ लेते हैं ।

उदाहरण के लिये, छोटे बच्चों की आँखें उठ आती हैं और दुखने लगती हैं । यदि तुरन्त इलाज कर दिया गया, तो ठीक हो जाती हैं ; पर

यदि गफलत की गई, तो कुछ रोज़ दुखते रहने के उपरान्त पलकों में रोएँ पड़ जाते हैं और फिर वे निकाले नहीं निकलते। रोएँ बने रहने से आँखों में सफेदी आने लगती है, जिससे ज्योति मन्द पड़ जाती है।

इसी प्रकार, बिस्तर में लेटकर पढ़ने से दोनों आँखों की तीव्रता एक-सी नहीं रहती। लेंप को सामने रखकर पढ़ने से अथवा उस पर ठक़्कन न रहने से आँखें खराब होती हैं।

परन्तु लोगों का लक्ष्य ऐसे प्रश्नों पर न होने से बच्चों की आँखें धीरे-धीरे खराब होती हैं और फिर जन्म-भर उन्हें दुःख भुगतना पड़ता है।

जो बालक गहरी साँस नहीं लेता अथवा अपनी छाती दो इंच या उससे अधिक नहीं फुला सकता, वह अधिक सम्भव है कि बड़ा होने पर राज्यक्षमा से पीड़ित हो; परन्तु बचपन में प्राणायाम की दीक्षा या अन्य ऐसे प्रकार के व्यायाम की शिक्षा देने से, जिसमें दीर्घ साँस लेने की आवश्यकता हो, यह भय टल सकता है। मैंने कई बालकों को ऐसा देखा है कि दो इंच तो क्या, वे आधा इंच फुलाने में भी असमर्थ निकले। उनके अभिभावकों को यह हाल बतलाने पर केवल उदासीनता के जवाब मिले। वे कहने लगे कि यह बालक तो बचपन से ही ऐसा है, क्या किया जाय। यदि उनको यह भय दिखाया गया कि इस बालक को राज्यक्षमा हो जाने की आशंका है, तो भी उन्होंने या तो यह कहा कि आप अशुभ क्यों बोलते हैं, अथवा यह कहने लगे कि भविष्य को कौन देख आया है ! विरले ही अभिभावक ऐसे मिलते हैं, जो इस बात को स्वीकार करने को तैयार हों कि उद्योग करने से लाभ हो सकता है और नियम-पूर्वक उचित व्यायाम कराने से वही बालक दृष्ट-पुष्ट तथा रोगहीन हो जायगा। टेढ़े पैर भी बचपन में उद्योग करने से सीधे हो जाते हैं और फिर बालक दौड़-धूप के अधिक योग्य हो सकता है।

जिस न्यूनता को हम रोक सकते हैं, उसको लापरवाही के कारण जड़ पकड़ने देना, मेरी समझ में, घोर पाप है ; क्योंकि उसके कारण उस बालक को जन्म-भर दुःख भुगतना पड़ेगा । भरपूर उद्योग करना अपना धर्म है । पूर्ण उद्योग करने पर भी यदि सफलता न मिले, तो मजे से भाग्य को दोष दिया जा सकता है । पर, यदि उद्योग ही न करें और फिर भाग्य को भी कोसें, तो इसमें कायरता है । हम लोगों को उचित है कि प्रत्येक बच्चे को, जो हमारे देश में पैदा हो, बहुमूल्य समझें और उसे रोग-रहित बनने, हृष्ट-पुष्ट होने और फूटकर सयाना होने का भरपूर अवसर दें । हमारे देश में जब किसी के घर बच्चा पैदा होता है, तब औरतें कुँवर-कन्हैया श्री-कृष्ण के जन्म-सम्बन्धी भजन गाती हैं और यह कहती हैं कि इस घर में कन्हैयाजी का जन्म हुआ है । इसका अर्थ मेरी दृष्टि में यह है कि गरीब-से-गरीब घर का बालक भी राष्ट्रीय दृष्टि से उतने ही महत्व का है, जितने कि श्रीकृष्णचन्द्रजी हम सबकी दृष्टि में हैं । हाँ, जितने महत्व का पुत्र माना जाता है, उससे अधिक महत्व की कन्या मानी जानी चाहिये ।

वही मनुष्य सक्षम हो सकता है, जिसके नीचे लिखे अवयव निर्दोष हैं—हृदय, फेफड़ा, अँतड़ी और आमाशय तथा किडनी (सूत्राशय) । जिसके ये पाँचो अवयव रोग-रहित हैं, वह ठीक पूरी उम्र पावेगा । और, बचपन में यदि इनमें से कोई भी दूषित हों, तो आगे उसका जीवन अन्धकारमय होगा ।

काम करने में क्षमता प्राप्त करने के लिये उनके सिवा नीरोग आँखें, कान, दाँत, पैर और बलवान हड्डियाँ तथा रक्तपूर्ण शरीर होना चाहिये । रक्त का बनना भोजन पर अवलम्बित है । जैसा भोजन, वैसा शरीर बनेगा । इसलिये यह भी देखना आवश्यक है कि बालकों को किस प्रकार का भोजन दिया जाय और इसका निर्णय वैज्ञानिक रीति से किया जाय, तो अच्छा हो ।

वैज्ञानिक दृष्टि से शरीर बनाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्तुओं की आवश्यकता है। मनुष्य के लिये मुख्य पदार्थ तो 'नाइट्रोजनपूर्ण' वस्तुएँ हैं, जो रक्त और वीर्य को बढ़ाती हैं। जैसे द्विदल पदार्थ—उड़द, मूँग, चना, मटर, सेम, गेहूँ के छिलके तथा अण्डों में ये विशेष परिमाण में मिलती हैं। फिर 'स्टार्च' (माँड़ी के पदार्थ) की भी आवश्यकता है, जो शरीर में उष्णता कायम रखते हैं। जैसे—गेहूँ का सफेद हिस्सा (आटा), चावल, आलू आदि। कुछ चिकनाई भी चाहिये, जो घी-तेल आदि से मिलती है। थोड़ी-बहुत शक्कर की भी आवश्यकता है, जो—कुछ तो अन्न में ही रहती है और कुछ ऊपर से भी खाई जाती है। एसिड अर्थात् अम्ल भी चाहिये। यह विशेषकर बच्चों को लाभकारी है। यही कारण है कि वे खटमिट्टे फलों को विशेष आनन्द से खाते हैं। विशेष करके विटैमिनों की आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को है। भोजन में इनके रहने से मनुष्य के चेहरे में कान्ति और प्रभा बनी रहती है। विटैमिनों की मात्रा दूध, टमाटो, सन्तरे, आम और अन्य फलों में अधिक रहती है। गेहूँ के छिलके के भीतर तथा अण्डों में जो पीला-सा पदार्थ रहता है, उसमें विटैमिन की मात्रा अधिक परिमाण में रहती है, ऐसा बतलाते हैं।

हिन्दुओं के भोजन में स्टार्च की मात्रा बहुत बढ़ गई है और नाइट्रोजन की मात्रा कम हो रही है। 'तीन बुलाये, तेरह आये, दे दाल में पानी।' घर में मनुष्य अधिक हो जाने से दिन-दिन दाल पतली बनने लगती है। चावल का परिमाण बढ़ता जाता है। शाक तथा हरी भाजी भी, जिसके खाने से दाँतों और मसूड़ों के रोग बढ़ने नहीं पाते, कम खाई जाती है और उनकी कसर आलू से निकाली जाती है; क्योंकि आलू अधिक स्वादिष्ट मालूम होता है और खाने से पेट भरा हुआ दिखता है।

यदि हम लोग चाहते हैं कि हमारे बालक बलवान, वीर्यवान, सामर्थ्य-

वान बनें, तो हमें वैज्ञानिक दृष्टि से और उचित अनुपात में उन्हें भोजन खिलाना चाहिये ।

गर्भवती स्त्री को दूध अथवा अन्य पदार्थ, जिनमें विटामिन अधिक है, अवश्य दिये जायें । अभ्याग्यवश स्त्रियों तथा लड़कियों को शायद ही कहीं किसी घर में दूध पीने को मिलता हो !

एक समय मैं एक अनाथालय देखने गया, जिसका संचालन एक अमेरिकन पादरी और उसकी मेम कर रहे थे । उस अनाथालय में गरीब-से-गरीब घरों के बच्चे, भूख से दूटे और रोग से पीड़ित, आते थे । परन्तु कुछ महीने बाद वे अँगरेज़ बालकों के समान हृष्ट-पुष्ट तथा मुस्तण्डे दिखाई देने लगे । उनकी दशा देखकर मुझे विस्मय हुआ । मैंने पादरी साहब से पूछा कि आप इनको क्या खिलाते हैं । उन्होंने उत्तर दिया कि इनका भोजन वही है, जो इस प्रान्त के नियासियों का है । फिर मैंने पूछा—तो फिर क्या कारण है कि नगर-निवासियों के वे बच्चे, जिनके घर में खाने को बहुत-कुछ मिलता है, बलहीन और रोगी दिखते हैं और इन बच्चों की कान्ति बिल्कुल निराली दिखती है । उन्होंने उत्तर दिया कि हम प्रत्येक को वैज्ञानिक अनुपात से मिलाकर भोजन देते हैं और शरीर को जितनी आवश्यकता है, उससे एक रत्ती भी अधिक खुराक नहीं देते । इसी से ये इतने बलवान तथा सुदृढ़ हो गये हैं । सिवा इसके मेम साहबा का कर्तव्य यह रक्खा गया है कि प्रत्येक बालक की सफाई देखें । प्रति-दिन उनकी आँखें 'बोरिक सोल्यूशन' से धोई जाती हैं । दस-पन्द्रह दिन में 'हाइड्रोजन पैरोक्साइड' से कान साफ़ किये जाते हैं । इसी प्रकार प्रत्येक अंग की सफाई पर मेम साहबा को ध्यान देते हुए देखा ।

मेरे मन में उनका कार्य देखकर बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई कि हिन्दू-घरों के उन अच्छे बालकों की दशा, जिनको सब-कुछ प्राप्त हो सकता है,

वैज्ञानिक भोजन न होने से कितनी गिरी हुई मालूम होती है ; और इन हिन्दू-बच्चों के, जो इसाई बना लिये गये हैं, पालन में इतनी फिक्र की जाती है कि बड़े होने पर ये हर तरह सुदृढ़ तथा नीरोगी रहेंगे ।

हिन्दू-जाति कब चेतगी ? बहुत दिन भाग्य के भरोसे रहे, अब तो इस प्रश्न की ओर ध्यान दें ! नहीं तो, जीवन की होड़ में कहाँ ठिकाना लगेगा !

दूसरे देशों के निवासियों की अपेक्षा हमारे देश के निवासियों का शारीरिक स्वच्छता पर अधिक ध्यान रहता है । प्रायः प्रत्येक मनुष्य नित्य स्नान करता है और शरीर को मल-मलकर बहुत-कुछ स्वच्छ कर लेता है । फिर भी खुजे-मैदान नहाने के कारण रगों तथा गुप्त भागों की सफाई उचित रीति से नहीं हो पाती । कदाचित् यही कारण है कि बहुतों को 'दाद' सताया करती है ।

शारीरिक स्वच्छता बहुत आवश्यक है । परन्तु साथ ही, खाने-पीने के बर्तनों की, घर के आसपास की तथा गाँव की स्वच्छता पर ध्यान देना भी अत्यन्त आवश्यक है । यह तो सत्य है कि हम लोग खाने-पीने के बर्तनों को बहुत साफ रखते हैं ; कपर इतनी ही रह जाती है कि लोटे तथा घड़े ऊपर से तो खूब माँजे जाते हैं, परन्तु कभी-कभी वे भीतर से काले तथा गन्दे रह जाते हैं । ऊपर की सफाई दिखाने को है और भीतर की सफाई यथार्थ लाभकारी है ।

स्वास्थ्य अच्छा रखने के लिये स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी और स्वच्छ भोजन की आवश्यकता है । पानी की फ़िक्र भी हिन्दू लोग बहुत करते हैं । परन्तु फिर भी अनेक घरों में देखने में आया है कि 'नाबदान' के पास पीने का पानी रखने में लोग संकोच नहीं करते । 'टायफ़ाइड' (आन्तरिक ज्वर) जो इस देश में फैलता जाता है, उसके उत्पन्न होने

का कारण यह है कि मल-मूत्र के कारण मक्खियों द्वारा पीने के पानी में तथा भोजन में कीटाणु पहुँच जाते हैं ।

एक घर में मैंने देखा कि दो-तीन साल के भीतर आन्तरिक ज्वर के तेरह-चौदह 'केस' हुए और घरवाले इलाज करते-करते तंग आ गये । एक दिन घर के मालिक मुझसे अपना दुखड़ा रोने लगे । मैंने कहा कि मुझे ज़रा अपना घर भीतर से तो दिखला दो । देखा कि उनके पानी का घड़ा नाबदान के मुँह के पास ही रक्खा जाता था । उनको जब यह बतलाया गया, तो उत्तर मिला कि पानी रखने की और कोई जगह ही नहीं है ! मेरी सलाह से उन्होंने दूसरा घर लिया, जहाँ पानी रखने की जगह नाबदान से काफी दूर थी । इसके उपरान्त फिर कोई 'केस' आन्तरिक ज्वर का उनके घर में न सुनने में आया ।

हैज़ा भी पीने के पानी में दोष लग जाने से उत्पन्न होता है । यदि मनुष्य होशियारी से रहे और घर की तथा आसपास की सफ़ाई रखे, तो मलेरिया, प्लेग, हैज़ा, आन्तरिक ज्वर आदि रोगों से बच सकता है । इन रोगों को खेलवाड़ न समझना चाहिये । चार पारी मलेरिया का बुखार आ जाने से मनुष्य के शरीर का वज़न दो-तीन पौंड कम हो जाता है । और, बाल्यावस्था में कठिनाई से साल-भर में पाँच-छः पौंड वज़न बढ़ता है । यदि साल में दो बार 'इकतरा' या 'तिजारी' आई कि साल-भर की उन्नति ग़ायब ! और, यदि कहीं 'सूक्ष्म-ज्वर' हो गया, तो शरीर का बंटाढार ही समझिये ।

मलेरिया यहाँ के निवासियों का भयंकर शत्रु है । जिसको यह रोग लग जाता है, वह जन्म-भर के लिये पस्त-हिम्मत और निरुत्साही हो जाता है । उसे दुनिया भी अन्धकारमय दिखने लगती है ।

जीवन का बीमा करानेवाली कम्पनियाँ उन लोगों से—जिन्हें किसी

समय आन्तरिक ज्वर, हैजा, प्लेग, मलेरिया या ऐसे ही अन्य भयंकर रोग हो गये हों—बीमा कराने के समय ज्यादा पैसा लेती हैं । वे जानती हैं कि यद्यपि बीमा करानेवाला रोग से मुक्त हो गया है, तो भी शरीर में कुछ-न-कुछ कमजोरी अवश्य आ गई है और इससे उसकी उम्र निश्चय कम होगी । यह बात सत्य भी है । इन रोगों से उत्पन्न कमजोरियाँ मनुष्य को वर्षों सताती हैं, और किसी समय किसी कारण से कमजोरी बढ़ी कि किसी दूसरी व्याधि ने आ घेरा ।

देश-हित की दृष्टि से घरों की और पैखाना-पेशाब-घर तथा गाँव की सफाई बड़े महत्व की है । जिन देशों में इन प्रश्नों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, वहाँ के लोग अधिक नीरोग और दीर्घायु होते हैं । क्या हम भी ऐसा उद्योग नहीं कर सकते ?

इस देश में मनुष्य का औसत जीवन-काल प्रायः बयालीस-तैंतालिस वर्ष का निकलता है । प्रायः आधे बच्चे पैदा होने के साल-भर के भीतर ही मर जाते हैं । इङ्गलिस्तान में औसत आयु बासठ या तिरसठ वर्ष तक की हो गई है । पहले वहाँ भी आयु कम थी । अब विचार करना चाहिये कि माता या पिता के अल्पायु होने से सन्तति को कितना दुःख झेलना पड़ता है । जिनके पिता या माता बयालिस या तैंतालिस वर्ष की उम्र में मर जायँ, उन अल्पवयस्क बालकों की देख-रेख किसी दूसरे रिश्तेदार को करनी पड़ती है । उस पर नया बोझ लद जाने के कारण रुपये-पैसे की तंगी आ जाती है और इसका बुरा परिणाम उन बिचारे बालकों और आश्रितों पर पड़ता है और उन्हें हर प्रकार की तंगी भुगतनी पड़ती है । माता-पिता की जगह चिरला ही मनुष्य ले सकता है । 'होत कपूत पूत बहुतेरे, होत कुमाता नाहीं ।' जिसकी माँ न रही, वह माता के प्रेम से वंचित हो जाता है । ऐसे बालकों के मन में क्या-क्या दुःख होते होंगे,

यह पाठकगण अनुमान कर लें। माता-पिता के न होने से किसी तरह से उनका पालन तो होता है; पर पूर्णतया सक्षम न होने से उनका जीवन संकटमय हो जाता है और वे भी कमसिनी में ही काल के ग्रास हो जाते हैं। जो मनुष्य मर गया, वह तो मर ही गया; परन्तु उसके बच्चों की मिट्टी खराब हो जाती है।

इससे स्पष्ट होगा कि जनता की औसत आयु बढ़ाने का उद्योग करने से समाज में दुःख की मात्रा बहुत घट जायगी और राष्ट्र का नवीन जीवन अधिक सुखमय होगा।

मानसिक शास्त्र का अनुभव है कि जो मनुष्य शरीर से निरोग है, उसकी बुद्धि का पूर्ण विकास पचास वर्ष के उपरान्त होता है और जब बुढ़ापे में उसकी शारीरिक शक्ति कम हो जाती है, तब वह अपनी बुद्धि तथा अनुभव का लाभ समाज को दे सकता है। परन्तु, यदि मनुष्य की शरीर-सम्पत्ति ठीक नहीं है, तो बुढ़ापे में उसकी मानसिक शक्ति भी क्षीण हो जायगी और वह समाज का उपकार न कर सकेगा।

नवयुवकों में उत्साह है, उमंग है, काम करने की शक्ति है, देश-प्रेम है; केवल अनुभव की कमी रहती है और यह अनुभव उन्हें वयोवृद्धों तथा ज्ञान-वृद्धों से मिल सकता है। अल्पजीवी जाति में वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध बहुत कम मिलते हैं, और इससे समाज की हानि होती है।

पाठशालाओं और कालेजों में शारीरिक क्षमता की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यह केवल लड़कों ही के लिये नहीं, वरन् लड़कियों के लिये भी। स्त्रियों की शारीरिक अवस्था दिन-दिन खराब होती जाती है। इस कारण उनकी सन्तति भी कमजोर और रोगी हो रही है। जब माताओं का सुधार होगा, तभी बालकों का सुधार हो सकता है।

पाठशालाओं में शिक्षा की आवश्यकता क्यों है ?

पिछले पृष्ठों में यह बतलाया गया है कि आत्म-शासन के फली-भूत होने के लिये जनता में अनेक ऐसे गुणों की आवश्यकता है, जिनकी स्वेच्छाचारी राज-तन्त्र में विशेष आवश्यकता नहीं थी, परन्तु जिन्हें परिपक्व करना अब नितान्त आवश्यक है। पर, प्रश्न कदाचित् यह उठेगा कि इसका कार्य उपदेशों, व्याख्यानों तथा अखबारों द्वारा हुआही करता है, तब पाठशालाओं तथा कॉलेजों में इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ?

मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि व्याख्यानों तथा अखबारों के द्वारा जनता को बहुत-कुछ शिक्षा दी गई है, और भविष्य में भी दी जायगी ; इसमें सन्देह नहीं। इसका फल यह हुआ है कि जनता में परोपकार की बुद्धि कुछ-कुछ जाग्रत हो रही है, समाज-सेवा के अंकुर भी उगगये हैं। इज्जत के थोथे ढकोसले भी कुछ कम दिखाई देते हैं और जनता में दुःख सहने की शक्ति भी बढ़ रही है, उसमें उत्साह आता जाता है। किन्तु, इतना सब स्वीकार करते हुए भी, यह कहना पड़ेगा कि जितना उपदेश होता है, उसके परिमाण से उनके अनुसार आचरण करनेवालों की संख्या बहुत कम दिखती है।

अनेक व्यक्ति ऐसे मिलते हैं, जो यह समझते हैं कि नागरिक का धर्म क्या है ; परन्तु उनमें उसके पालन की प्रवृत्ति नहीं है। उनका ज्ञान कार्य-रूप में परिणत नहीं होता। इसका सबूत यह है कि जीवन का प्रवाह अभी भी बहुत-कुछ पूर्ववत् चला जाता है। हिन्दुओं की मुर्दानी में पहले

के समान बहुत कम लोग जाते हैं। जिसकी बिरादरी के लोग गाँव में न हुए, उसकी लाश की बड़ी फजीती होती है। अन्य बिरादरी वाले आतृ-भाव दिखलाने में हिचकते हैं। वे यह नहीं सोचते कि एक हिन्दू की अन्त्येष्टि क्रिया ठीक तौर से करा देना प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है। मुसलमानों में सब साथ देते हैं; परन्तु हिन्दुओं में नहीं। जबान से चाहे जो कुछ कहें; परन्तु जनता में ऊँच-नीच का भाव प्रबल बना ही हुआ है।

रेल के टिकट-घर में चले जाइये। जो बलवान या वसीलेदार है, वह घुसकर टिकट ले आता है। पहले से खड़े हुए कमज़ोर लोग मुँह ताकते रह जाते हैं। बलवान या सामर्थ्यवान मनुष्य यह नहीं देखता कि निर्बलों को सहायता देकर टिकट दिला देना अथवा गाड़ी में बिठा देना भी हमारा धर्म है। इसी प्रकार, शिक्षित मनुष्य भी, स्थान होने पर भी, अपढ़ या गरीब भाइयों को अपने कम्पार्टमेंट में बैठने नहीं देते, आँखें लाल-पीली दिखाकर उन्हें घुड़कते हैं। ठीक इसी प्रकार, यदि सभाओं में कोई जाय, तो देखने में आता है कि वादानुवाद के समय नियमबद्ध भाषण नहीं होता। जिसकी तबीयत में जो कुछ आया, बक डालता है! व्याख्यान-दाता का भाषण ध्यानपूर्वक कम लोग सुनते हैं। जिस समय महत्व के प्रश्नों की चर्चा छिड़ रही है, उस समय भी आपस की गोष्ठी बन्द नहीं होती। जैसे बाज़ार में हल्ला होता है, कुछ अंशों में वैसा ही सभा में भी देखने में आता है। अनेक लोग समय पर नहीं आते। यदि कार्य आरम्भ होने पर आये भी, तो जूते खड़खड़ाते हुए चले आवेंगे और आगे बैठने का ही प्रयत्न करेंगे। उन्हें यह नहीं सूझता कि यदि लेट हो गये, तो उनका पहिला कर्त्तव्य यह है कि सभा में बिना विघ्न डाले भीतर आवें और पीछे आने पर पीछे बैठें। यही उचित भी है। सभापति महोदय इशारे करें, तो उनको भी मान नहीं देते।

कुछ दिन हुए, एशियाटिक कान्फरेंस (काशी) में ही देखने में आया कि अनेक शिक्षित और मान्य सज्जन निर्दिष्ट स्थान पर बैठना स्वीकार नहीं करते थे, अपने मन की जगह चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि कई आदमी स्त्रियों के लिये रिज़र्व किये हुए स्थानों में जा घुसे, कई तो माननीय प्रतिनिधियों के लिये रिज़र्व की गई कुर्सियों पर जा बैठे ! इस प्रकार शोर मचा दिया कि कान्फरेंस के कार्यकर्ता हाथ जोड़ते ही रहे ; परन्तु उन्होंने कुछ विचार नहीं किया। जब शिक्षित समुदाय का ऐसा वर्ताव है, तो औरों से क्या आशा की जा सकती है ? इतना ही नहीं, मैंने तो कई प्रतिनिधियों का भी यह तमाशा देखा कि पहले से कोई सूचना नहीं और अचानक साथियों को लेकर आ टपके और मनमाना स्थान माँगने लगे। उन्हें भी यह न सूझा कि स्वागत-कारिणी समिति के पास कोई 'कक्षतरु' तो है नहीं कि जिस समय जो चीज़ माँगी जाय, फौरन् मिल जायगी और उनको चाहे जब पूरा सुभीता दिया जायगा। इस प्रकार की स्वेच्छाचारपूर्ण कारवाइयों से अनेक अतिथियों का उचित स्वागत और प्रबन्ध न हो सका।

मेरी प्रार्थना यह है कि पुराने तोते जल्दी बोलना नहीं सीखते। मनुष्य-स्वभाव ऐसा है कि जिन बातों की आदत बचपन में पड़ जाती है, उसे बदलना बड़ा कठिन हो जाता है। हम लोगों को बचपन में दूसरे ही प्रकार की शिक्षा मिली है। हमें अधिकारी का हुक्म मानना तो सिखलाया गया ; पर आत्म-शासन की मात्रा बहुत कम दी गई। जहाँ सत्ताधारी का अंकुश हटा कि हम ढीले पड़ जाते हैं। हमारा जीवन अनियमित है। हमारे खाने, पीने, सोने, काम करने आदि का कोई निश्चित समय नहीं है। जिस समय जैसी मौज आई, वैसा कर दिया। यह निरंकुश शासन का प्रभाव है।

यह तो मामूली लोगों की चर्चा हुई। परन्तु, जो लोग जनतावादी

नेता बने हैं और अपने को दर्जे-अव्वल के डेमोक्रेट समझते हैं, उनके स्वभाव में भी जनरलशाही भरी हुई है। उनके मत का ज़रा विरोध हुआ कि 'थर्मामीटर का पारा' चढ़ गया। उनकी उचित-अनुचित बात स्वीकार करो, तब तो तुम अच्छे भले आदमी हो। परन्तु, यदि उनके मत से ज़रा भी भेद दर्शाया कि दुष्टों में तुम्हारी गणना होने लगी—उनकी द्वेषाग्नि बढ़ी। यदि उनका जीवन देखा जाय, तो बिल्कुल अव्यवस्थित है। उनके पास मुँहलगे चापलूस लोगों का दरबार जमा रहता है।

एक समय, जब मांटैग्यू-रिफ़ार्म जारी हुए थे, किसी एक प्रदेश में एक सज्जन—जो अपने को सोलह आने जनतावादी समझते थे—मिनिस्टर बन गये। गवर्नर साहब ने आज्ञा जारी की कि जब मिनिस्टर साहब किसी स्थान पर तशरीफ़ लानेवाले हों, तो उनकी पेशवाई के लिये सब सरकारी अफसर, रईस, दरबारी आदि हाज़िर रहें। एक शहर में उनके आने की सूचना आई। तीन-चार सौ नागरिक अपना-अपना काम छोड़कर स्टेशन पर हाज़िर हुए; पर हज़रत आये ही नहीं! इस तरह तीन बार नोटिस हुई। तीनों बार नागरिक भटके; पर हुआ तशरीफ़ न लाये! उनका मन ऐसा अव्यवस्थित था कि जो हुक्म आज देते, उसे कल मन्सूख कर देते। आख़िर जब वह पीछे किसी दिन आ टपके, तो एक चिड़िया भी उनके स्वागत को न गई! उनसे पूछा भी गया कि आपने यह क्या तमाशा किया, तो कहने लगे कि सरकारी आदमी मुफ्त की तनख़्वाह पाते हैं, ज़रा उन्हें भटकने भी तो दो! उनके दरबार में जो मुँहलगे खुशामदी बैठे थे, कहकहा मारकर हँसने लगे। किन्तु उच्चासन पर बैठे हुए मिनिस्टर साहब-बहादुर के खयाले-शरीफ़ में यह न आया कि मजिस्ट्रेट और पुलिस अफसरों के कचहरी के समय स्टेशन पर आ जाने के कारण जनता, असामी, मुक्किलों आदि को कितना कष्ट हुआ होगा। सरकारी

अफसर भले ही उनके गुलाम थे । रईस, दरबारी, म्युनिसिपल मेम्बर आदि तो उनके हाथ नहीं बिक गये थे ? उनके अमूल्य समय का खयाल तो करना था ?

जो हाल इन जनतावादी मिनिस्टर का देखा गया, वैसा नहीं तो उन्नीस-इक्कीस अनेक जनतावादियों में देखा जाता है । कहें कुछ भी, परन्तु स्वभाव में स्वेच्छाचार की मात्रा थोड़ी-बहुत भरी ही रहती है ।

पाठकगण दस-पाँच विशेष जनतावादियों के नाम लेकर कदाचित् कहें कि उनमें यह बात नहीं देखी जाती । मैं स्वीकार करता हूँ कि वे पुरुष-रत्न हैं ; परन्तु वास्तव में हैं वे थोड़े ही, मेरा लक्ष्य विशेष करके नकली जनतावादियों पर है ।

मेरे उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि वे जनता-वाद के सिद्धान्तों को नहीं समझते अथवा वे मक्कार या दुष्ट हैं । मेरा कहना इतना ही है कि बचपन में जिस प्रकार की शिक्षा घर में या पाठशाला में मिलती है, उसका असर आमरण नहीं जाता । आधुनिक जनता या जनतावादियों को बचपन में, घर में, पाठशालाओं में तथा समाज में, अनियन्त्रित प्रणाली का ही शासन मिला है । उन्होंने प्रजातन्त्र के सिद्धान्त अब भले ही सीख-समझ लिये हों ; पर उनके बचपन के संस्कार अनियमित शासन तथा स्वेच्छाचार के ही पड़े हैं । यदि बड़े होने पर उनके आचरण में पुरानी झलक बनी रहे, तो ताज्जुब ही क्या ?

सार यह कि आत्म-शासन की शिक्षा केवल समाचार-पत्रों, पुस्तकों अथवा उपदेशों से पूरी नहीं हो सकती । उसकी नींव बचपन से ही डालने का उद्योग होना चाहिये । इस कारण, हमें इस बात की जाँच करनी चाहिये कि हमारी पाठशालाओं में क्या ऐसी शिक्षा दी जाती है कि लड़के और लड़कियाँ, बड़े होने पर, योग्य नागरिक और नेता बनें ?

क्या उसकी प्रणाली ऐसी है कि वे आत्मशासित जीवन के लिये तैयार हो रहे हैं ? क्या उनको देश-प्रेम, स्वार्थ-त्याग, समाज-सेवा, सचाई और निरंतर परिश्रम तथा उद्योग की शिक्षा दी जाती है ? क्या उन्हें वीर और निडर मनुष्य बनाने का उद्योग हो रहा है ? क्या वे आपस के झगड़े मिल-जुलकर तय करना सीख रहे हैं ? अथवा, बात-बात पर शिक्षक तथा अधिकारियों के पास शिकायत करने दौड़े जाते हैं ? क्या उन्हें नीरोग, बलवान, निडर और पराक्रमी बनाने की चेष्टा की जाती है अथवा उन्हें डरपोक, निस्तेज, पुरुषार्थ-विहीन तथा पोथी-पण्डित बनाने का उद्योग हो रहा है ? क्या सबल को यह दीक्षा दी जाती है कि निबल की रक्षा करना, आततायियों का मुकाबिला करना और दुष्टों का दमन करना प्रत्येक का धर्म है ? क्या शिक्षा जातीयता की दृष्टि से भी दी जाती है ?

ऐसे अनेक प्रश्न मन में उठते हैं । यदि इनका उत्तर संतोषजनक न हुआ, तो फिर यही कहना होगा कि भावी जन-समाज को ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती कि वह प्रजा-शासित देश में रहने योग्य बने या उस प्रणाली को फलीभूत बना सके ।

वयस्क तथा वृद्ध सज्जनों का स्वभाव अथवा आदर्श नवीन जीवन के योग्य बनाना, यदि असम्भव नहीं तो, कष्टसाध्य अवश्य है । हमारा भरोसा मुख्यतः नव-युवकों पर हो सकता है । उनमें उत्साह है, देश-प्रेम है, कार्य करने का जोश है, स्वतन्त्रता की बू भरि है, अपने स्वभाव को नवीन जीवन के अनुकूल बनाने की शक्ति भी है । यदि उचित प्रकार की शिक्षा समय पर मिल गई, तो वे प्रजातन्त्र-प्रणाली को कल्याणकारी बना सकेंगे । यदि वह न मिली, तो वही प्रणाली देश के लिये भयंकर भी हो सकती है ।

जातीय शिक्षा किसे कहते हैं ?

जातीय शिक्षा वह शिक्षा है, जिसे समाज के नेता नवीन अवस्था वालों को, अपनी ही जाति के शिक्षकों द्वारा, जाति और समाज तथा व्यक्ति के लाभार्थ देते हैं। नेताओं का धर्म है कि वे यह देखें कि किस प्रकार की शिक्षा इन तीनों के लिये लाभकारी हो सकती है। नेताओं से यह भी आशा की जाती है कि इस प्रश्न के प्रत्येक पहलू पर बारीकी से विचार करके शिक्षण-प्रणाली निश्चित करें।

अभी तक जातीय शिक्षा की चर्चा बहुत सुनने में आई है ; परन्तु देख पड़ता है कि इस प्रश्न पर यथार्थ रीति से विचार नहीं किया गया। नेशनल स्कूट का मतलब बहुधा यह समझा जाता है कि वन्देमातरम् का गीत गवाया जाय, राष्ट्रीय झंडे के साथ जुलूस निकाला जाय, सभाओं में हाज़िरी दिलाई जाय, और खूब छुट्टियाँ मिलें ; न पढ़ने का कोई विशेष अंकुश, न परीक्षाओं की झंझट, न हाज़िरी की कैद ! यदि इतने से जातीय शिक्षा हो जाय, तो फिर क्या है ! जातीय शिक्षा पापड़ तोड़ने के समान सहल हो गई ; कोई कठिन समस्या ही न रही !

मेरी समझ में यह प्रश्न बड़े महत्व का है और गहरे विचार के उपरान्त इसका निर्णय करना आवश्यक है। ऊपर दी हुई परिभाषा में यह शर्त रखी गई है कि शिक्षा—जाति, समाज और व्यक्ति के लाभार्थ—दी जानी चाहिये। इसी पर कुछ अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

प्रत्येक जाति के पास उसके पूर्वजों की रची हुई सभ्यता और ज्ञान-भाँडार है। समय के अनुसार सभ्यता और ज्ञान-भाँडार में परिवर्तन होते रहते हैं ; परन्तु फिर भी हमारे पूर्व-पुरुषों के संचित ज्ञान का थोड़ा-बहुत अंश प्रत्येक बालक को मिलना ही चाहिये। तभी उसमें जाति-विशेष के गुण बनें रहेंगे और इन गुणों का विकास भी होगा। जिस प्रकार दीवार खड़ी करने के पहले गहरी नींव खोदी जाती है और पीछे से दीवार खड़ी की जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक बालक की आधुनिक शिक्षा भी प्राचीन सभ्यता-रूपी नींव के आधार पर दी जानी चाहिये ; जैसे नींव के बिना दीवार कच्ची रहती है, वैसे ही जातीय सभ्यता के आधार पर शिक्षा न पाये हुए बालक का विकास पूर्ण और स्थिर रूप से नहीं होता।

हिन्दू-बालक की शिक्षा हिन्दू-सभ्यता के आधार पर होनी चाहिये, जिससे कि वह आदर्श हिन्दू हो सके और हिन्दू-जाति में जो गुण हैं, वे उसमें परिपक्व हो सकें। इसी प्रकार मुसलमान बालक को शिक्षा भी 'इस्लामी-सभ्यता' के आधार पर यदि हो, तो उसे विशेष लाभ होगा। फिर दोनों को हिन्दुस्तानी सभ्यता के आधार पर भी शिक्षा देनी चाहिये।

यदि हिन्दुस्तानी बालकों को वैसी शिक्षा दी जाय, जैसी कि इङ्ग्लैंड अथवा अमेरिका के बालकों को दी जाती है और जातीय सभ्यता का संस्कार न कराया जाय, तो न वे दीन के रहेंगे—न दुनिया के, न वे अच्छे अंगरेज़ बनेंगे—न अच्छे हिन्दुस्तानी ; और उनकी विद्या-बुद्धि या आचरण का प्रभाव बिल्कुल संकुचित हो जायगा।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में मुझे मुख्य दोष यह दिखता है कि न तो उसमें प्राचीन सभ्यता का ही विशेष उपयोग है और न हमारे पूर्व-पुरुषों के दिये हुए ज्ञान-भाँडार का ही। अंगरेज़ी स्कूलों के बालक हिन्दू

महीनों के नाम कदाचित् ही बता सकेंगे ! परन्तु 'जरमरी' 'फिरमरी' 'मार्च' 'खपरैल' आदि अँगरेज़ी महीनों के नाम धड़ाके से बतला देंगे ! बिरला ही विद्यार्थी ऐसा मिलेगा, जो तिथियों का ज्ञान रखता हो, आकाश में नक्षत्रों को पहचान सकता हो, जैसे—मृगशिरा, स्वाती, पुष्य, पुनर्वसु, ध्रुव आदि । न उनमें यही ज्ञान होता है कि गुरु और शुक्र-सरीखे ग्रहों को वे पहचान सकें, जिनके उदय-अस्त का विचार विवाह-उपनयन आदि मुहूर्तों को निश्चय करने में किया जाता है । सम्भव है कि अँगरेज़ी नाम बतलाने से शायद कुछ पहचानें । हिमालय की सर्वोच्च चोटी को 'एवरेस्ट' के नाम से तो वे जानते हैं ; परन्तु उसके देशी नाम 'गौरी-शंकर' से अनभिज्ञ रहते हैं ! यदि चोट आ गई, तो 'टिंकचर-आय-डीन' का उपयोग तो थोड़ा-बहुत सब कर लेंगे ; परन्तु कोई बिरला ही भाग्यशाली मिलेगा, जो यह बता सके कि नीम के रस से घाव में वही लाभ (घाव के कीटाणुओं का नाश) होगा, जो टिंकचर-आय-डीन से । प्रतापनारायणजी मिश्र कह गये हैं कि 'घर की खाँड़ खुस्तुरी लागै, चवारी का गुड़ मीठा ।' घर की वस्तु की दर नहीं, सारी दुनिया में छान-बीन ! भूगोल में यह पढ़ाया जाता है कि पृथ्वी गोल है और योरप के अमुक विद्वान् ने यह बात ढूँढ़ निकाली । वस्तुतः समुद्र-तटस्थ देशों के लोगों के लिये यह ढूँढ़ निकालना कुछ कठिन नहीं है ; क्योंकि समुद्र की सतह गोलाकार दिखती है ; परन्तु प्रायः बाइस-तेइस सौ वर्ष हुए, जब इस देश के प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट्ट ने यही बात कही थी ; पर उसका कोई उल्लेख भी नहीं करता ! उसने यदि इस बात का पता लगाया, तो यह हिन्दू-सभ्यता का गौरव है ।

देश की वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी तथा जीव-जन्तु भी एक तरह से हमारे देशवासी हैं । उनके विषय में हमारा जिज्ञासु होना स्वाभाविक है ;

परन्तु आधुनिक शिक्षा का ऐसा कुछ प्रभाव ही हो रहा है कि विद्यार्थि-गण न तो हमारे देशीय पौधे पहचानते, न पशु-पक्षियों के जीवन-रहस्य समझने का कोई उत्साह ही दिखाते। मैंने अनेक बार प्रश्न पूछ कर देखा है कि चमेली, चम्पा, जुही, गुलाब आदि फूलों की सुगन्ध अनेक विद्यार्थी नहीं पहचानते—न वे यही जानते हैं कि किस पेड़ की बाढ़ किस मौसिम में होती है, या मधु-मक्खियाँ किन फूलों की तरफ विशेष करके पहुँचती हैं, किन कीड़े-मकोड़ों से पौधों को फायदा हो सकता है और किनसे नुकसान। वे यह भी नहीं जानते कि तरह-तरह के सुन्दर पक्षियों के नाम क्या हैं, उनका जीवन किस प्रकार का है, वे दुनिया में कौन-सा उपयोगी कार्य कर रहे हैं। ऐसे प्रश्नों की ओर उनका लक्ष्य ही नहीं है !

अहिंसावादी होने से अनेक हिन्दू-बालक किसी जीव का प्राण नहीं लेना चाहते, इससे कोई हर्ज नहीं ; परन्तु फिर भी वे पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों के जीवन की ओर लक्ष्य क्यों नहीं देते ? मुसलमान बालक पेड़-पूजा की दृष्टि से कुछ ऐसी बातों में अधिक उत्साह दिखाते हैं ; पर हिन्दू बालक बहुधा आँख मींचकर चलते हैं। आँखें हुई तो क्या ? जो इन बातों का अवलोकन करने में उत्साह नहीं रखता, वह देश के प्रत्येक अंग को नहीं पहचान सकता।

इस अज्ञानता के कारण, आसपास अनेक प्रकार की सामग्रि होने पर भी, हमारे अँगरेज़ी-पढ़े युवक उनका उचित उपयोग नहीं कर सकते ; बल्कि देहात के लोगों को इन बातों का अधिक ज्ञान होता है। समय पड़ने पर वे आसपास की जड़ी-बूटियों से ही अपनी दवाएँ तैयार कर लेते हैं और पशु-पक्षियों के जीवन को देखने से उन्हें थोड़ा-बहुत विशुद्ध आनन्द भी मिल जाता है। अनेक बूढ़ी स्त्रियाँ छोटे-मोटे ऐसे चुटकुले जानती हैं कि

समय पर वे बड़ा काम दे जाते हैं। कहने को ये लोग अशिक्षित हैं—न इन्हें घड़ी का उपयोग मालूम, न थर्मामीटर का; परन्तु इनमें इतनी शक्ति अब भी है कि सूर्य-चन्द्रमा या तारों को देखकर समय निकाल लें या दिशा पहचान लें और नाड़ी देखकर यह जान जायँ, कि ज्वर है या नहीं। परन्तु शहर के अँगरेज़ी-पढ़े युवकगण घड़ी के बिना समय का अन्दाज़ लगाने में असमर्थ हो जाते हैं। उनका दिशाओं का ज्ञान नक्शे के बाहर नहीं जाता! यदि रात-बिरान किसी जंगल या मैदान में रास्ता भूल जायँ, तो बिना किसी दूरे के हाथ में 'नाथ' दिये, रास्ता नहीं पा सकते—छियों के समान असहाय हो जाते हैं! इसी तरह घर में किसी के बीमार हो जाने पर न वे आसपास की जड़ी-बूटियों का उपयोग कर सकते हैं, न बाज़ार की वस्तुओं का। उन्हें केवल एक ही उपाय सूझता है—डॉक्टर साहब की दी हुई बोतलें एकट्ठो करके 'वाडलीवाला' बन जायँ! इस प्रकार के निराधार जीवन से अपने ही देश में मनुष्य विदेशी-सा हो जाता है।

शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी होने तथा उस भाषा पर विशेष लक्ष्य स्थापित होने के कारण, मातृ-भाषा की तरफ़ उचित लक्ष्य नहीं दिया जाता। इस कारण, यह देखने में आया है कि लोगों को अँगरेज़ी-साहित्य और अँगरेज़ी-ज्ञान तो कदाचित् मिल जाता है; परन्तु मातृ-भाषा के साहित्य का ज्ञान और देश का संस्कृत ज्ञान बहुत कम मिलता है। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई है कि बाप बेटे को, बेटा बाप को, भाई भाई को, कहीं-कहीं अँगरेज़ी में पत्र लिखते हैं और अपना हिसाब-किताब भी उसी भाषा में करते हैं! यदि कहा जाय कि मातृ-भाषा में क्यों नहीं लिखते, तो उत्तर मिलता है कि उसमें कुछ ठीक बनता नहीं! अनेक शिक्षित जन ऐसे भी मिलेंगे, जिन्हें मिल्टन, शेक्सपियर, टेनिसन, कारलाइल, डिक्न्स

और थैकरे के ग्रन्थों का तो अच्छा परिचय है ; परन्तु जिन्होंने कबीर-दास, सूरदास या मीरा के वचन बहुत कम बाँचे हैं ! इसी प्रकार बर्कले, ब्रूम, काण्ट, हेजेल के दार्शनिक शास्त्र तो पढ़े हैं ; परन्तु अपने सांख्य, वैशेषिक अथवा मीमांसा की सुध नहीं है ! यही तमाशा वैद्यक-शास्त्र के अध्ययन में भी देखा जाता है। देशी चिकित्सा का तो उन्हें दिग्दर्शन तक नहीं कराया जाता !

स्कूलों में जब गणित पढ़ते हैं, तो हमारी पुरानी गणित-पद्धति का विस्मरण हो जाता है—न अंक-गणित सिखाया जाता है, न रेखा की पद्धति, न व्याज निकालने की महाजनी रीति। अँगरेजी में मिश्र रकम लिखनी हो तो इस प्रकार लिखते हैं—

Rs. A. P.

2 — 14 — 9, (2/14/9)

रेखा-पद्धति से उसे यों लिखते हैं—२॥॥॥

इसी प्रकार आँक डालकर इस प्रकार दर्शाते हैं। जैसे—२॥५, १५॥॥—

महाजनी में यदि ३८७ रुपये ८ आने का व्याज ४ आने प्रति मास की दर से १॥ साल का निकालना हो, तो अपवर्तक बनाकर इस प्रकार निकालेंगे—

∴ १०० रुपये का	१ मास में	४ आने	अर्थात्	१
∴ ३००	”	१२ आने	”	॥
∴ ५०	”	२ आने	”	॥
∴ २५	”	१ आना	”	॥
∴ १२॥॥	”	२ पैसे	”	॥
∴ ३८७॥॥	१ मास में १५ आने ६ पाई			॥॥॥

∴ १ मास का व्याज ३८७।। का ॥॥॥ है

∴ १२ मास ,, ,, १२ × १ = १२ — ॥॥ (अर्थात् १२ × ॥॥)
= ११॥॥

∴ ६ मास ,, ,, ६ — ॥ (अर्थात् ६ × ॥॥)
= ५॥॥

∴ ३८७।। का १॥ साल का व्याज ११॥॥ + ५॥॥ = १६॥॥ उत्तर

देशी पद्धति से गणित (हिसाब) लगाने में जोड़-बाकी में समय बहुत कम लगता है । बहुत-कुछ काम जबानी कर लेते हैं । ऊपर जो रीति बतलाई गई है, वह विगतपूर्ण है । इसका कारण यही है कि कदाचित् पाठक महाजनी रीति से परिचित न हों । अँगरेजी गणित में भी इसकी नक़ल की गई है, जिसे प्रैक्टिस की रीति कहते हैं ; परन्तु उसमें आडम्बर बहुत आ जाता है—लिखाई अधिक और काम कम । जो शिक्षा महाजनी गणित अथवा बही-खातों का ज्ञान उचित रीति से नहीं कराती, वह अच्छी शिक्षा किस प्रकार कही जा सकती है ?

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि अँगरेजी पद्धति न सिखाई जाय, कहना सिर्फ इतना ही है कि हिन्दू-पद्धति के आधार पर शिक्षा आरम्भ की जाय और फिर विदेशी शिक्षा ऊपर से जोड़ी जाय, अर्थात् वह केवल पूरक भर हो ।

हर-एक जाति में कुछ-न-कुछ विशेष गुण रहते हैं, जो कि अन्य जातियों में उतने अच्छे रूप में नहीं पाये जाते । हिन्दू-बालकों में कई मानसिक या नैतिक गुण ऐसे मिलेंगे, जो अन्य-देशीय बालकों में नहीं देखे जाते । अगर देखे भी जाते हैं, तो उतने परिपक्व रूप में नहीं । हिन्दू-बालकों की स्मरण-शक्ति बड़ी विचित्र है । चालीस तक के पहाड़े, अपूर्णाङ्क पहाड़े—जैसे सवैया, ड्योढ़ा, पवनिया, अढ़इया, ढोंचा, पौंचा, अद्दा—बड़े चाव

से याद कर लेते थे और उनकी सहायता से कठिन-से-कठिन प्रश्न मुखाग्र हल कर लिया करते थे। विदेशी लोग हिन्दू-बालकों की यह शक्ति देखकर विस्मित हो जाते थे। परन्तु इन सबकी शिक्षा प्रायः उठ गई है। मनगणित (व्यापार-गणित) का अभ्यास भी प्रायः गिरता जाता है। इसका फल यह होता है कि अँगरेज़ी-पढ़े बाबुओं को छोटे-छोटे सवाल हल करने के लिये स्लेट, पाटी या नोटबुक चाहिये ! जब ये बाज़ार जाते हैं, तो दूकानदारों के सामने पूरे बेकूफ़ बनते हैं ! वे भी समझ लेते हैं कि 'आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा, बाबू शकल याबू' आ गया ! जिस देश में काछी, काछन, खटकिन तथा कुँजड़िन भी जबानी हिसाब कर दिखाती हैं, वहाँ स्कूल के पढ़े बाबुओं को नीचा देखना पड़ता है !

हिन्दू-बालकों में व्यक्ति से भाव की तरफ़ बुद्धि तेजी से दौड़ती है। गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने में वे अन्य-देशीय बालकों की अपेक्षा अधिक योग्यता दिखलाते हैं। उनके मनोविकार अधिक वश में पाये जाते हैं। एक समय एक अँगरेज़ अफसर, जो ताज़ा ब्रिलायत से आये थे, एक प्राइमरी पाठशाला के निरीक्षण के लिये गये। उनके आगमन के कारण बच्चों को मिठाई बँटवाई गई। परन्तु चार-पाँच वर्ष के छोटे-छोटे बच्चों ने भी उसे पाकर मुँह में न डाली। साहब बड़े चकित हुए। पूछने लगे, तुम लोग मिठाई क्यों नहीं खाते ? उत्तर मिला, हमारे घर में भाई-बहिन हैं, उनको भी बाँटेंगे, तब खायेंगे ! उन छोटे बच्चों का आत्म-विसर्जन (आत्म-त्याग) देखकर साहब बोले कि इस प्रकार का भाव दूसरे देशों में बहुत कम देखने में आता है।

उपर्युक्त उदाहरण से पाठकगण यह समझ सकेंगे कि जन्म से ही हिन्दू-बालक के लिये आत्म-संयम कितना स्वाभाविक है। यदि इसका विकास उचित रीति से बराबर पाठशालाओं में होता रहे, तो कितने ही त्यागी पुरुष हमारे समाज में तैयार हो जायेंगे।

उच्चादर्श को लेकर अपने शरीर तथा मन को इसके अनुकूल बनाने की शक्ति भी हिन्दू-बालकों में विशेष पाई जाती है। सिखाने से वे ढाँचे में जल्दी आ जाते हैं। यह गुण प्रायः सभी हिन्दुस्तानी बालकों में बहुत ज्यादा पाया जाता है। 'गुन ना हिरानो, गुन गाहक हिरानो है।' इतनी अच्छी शक्ति होने पर भी यदि उसका उचित उपयोग न हो, तो प्रारब्ध का दोष है। यदि इसका नियमित तथा निश्चित रूप से उपयोग किया जाय, तो ये बालक न मालूम क्या से क्या हो जायँ।

हिन्दुस्तानी बालकों में जो विशेष गुण पाये जाते हैं, उनका विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। इसपर एक विशेष ग्रन्थ तक लिखा जा सकता है।

एक नई विद्या निकली है, जिसे अँगरेज़ी में 'एक्सपेरिमेंटल साइ-कालाजी' (Experimental Psychology) कहते हैं—अर्थात् प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान का अध्ययन। इसका प्रचार फ्रान्स, अमेरिका और इंग्लैण्ड में भी बहुत हो गया है। इसके द्वारा वे लोग अपनी जाति के विशेष गुण तथा दोष जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु इसका प्रचार अभी हिन्दुस्तान में फैला नहीं है। जब ऐसा हो जायगा, तब हम लोग भी वैज्ञानिक रूप से जान सकेंगे कि हमारे बालकों में कौन-कौन-से गुण अथवा दोष विशेष रूप से पाये जाते हैं। जातीय शिक्षा तभी सफल हो सकती है, जब अपनी जाति के गुणों का पूर्ण विकास कराया जाय और वसमें जो दोष हों, उनके निवारण का भी उद्योग किया जाय।

जो विशेषताएँ ऊपर बतलाई गई हैं, वे अनुभव से देखी गई हैं और कुछ प्रयोगमय मनोविज्ञान के आधार पर भी हैं।

हिन्दुस्तान के प्रायः सभी शिक्षक इस बात को स्वीकार करेंगे कि स्कूल के बालकों में शायद ही कोई मादक-पदार्थों का उपयोग या सेवन

करते हैं। बहुधा वे संयमी रहते हैं। इस कारण, यदि उनको काम लेने-वाला मिले, तो वे अधिक काम कर सकते हैं; परन्तु पाठशालाओं की व्यवस्था इस देश की आब्रहवा के अनुकूल नहीं की जाती। योरप के बालक सुबह अधिक काम नहीं कर सकते। जब उनकी पेट-पूजा हो जाती है तब—अर्थात् नौ-दस बजे के उपरान्त—पढ़ने-लिखने का कार्य कर सकते हैं। परन्तु हिन्दुस्तानी बालकों में विशेषता यह है कि वे बहुत जल्द सोकर उठ सकते और सूर्योदय के उपरान्त ही पढ़ने-लिखने का कार्य—कुछ कलेवा करके अथवा खाली पेट भी—उत्तम प्रकार से कर लेते हैं। हिन्दुस्तान की आब्रहवा ऐसी है कि दोपहर के समय, साल में छ महीने, कुछ-न-कुछ आलस्य आ ही जाता है। उस समय प्रायः सबको, अर्थात् छोटे-बड़ों को, कुछ विश्राम मिलना चाहिये। परन्तु इंगलिस्तान के स्कूलों की देखादेखी यहाँ भी दस-ग्यारह बजे स्कूल खोलते हैं ! बिचारे छोटे-छोटे बच्चे जल्दी-जल्दी खाकर पाठशाला की ओर भागे आते हैं और आते ही मानसिक कार्य करने लगते हैं। इससे नतीजा यह होता है कि उनकी पाचन-शक्ति दुर्बल पड़ जाती है।

मनुष्य-शरीर का यह नियम है कि जिस कार्य में वह दत्तचित्त हो, उसी के अनुसार रक्त-प्रभाव होता है। भोजन के उपरान्त रक्त-प्रवाह आमाशय की ओर पहुँचता है और भोजन के पाचन में सहायता देता है। व्यायाम के समय वह प्रवाह शरीर के अवयवों की तरफ दौड़ता है और अध्ययन के समय मस्तिष्क की ओर। इतना रक्त किसी के शरीर में नहीं है कि बुद्धि, उदर और शरीर के अवयव—इन तीनों—को रक्त-प्रवाह की सहायता एक साथ ही पूर्ण रूप से मिल सके। जब बालक भोजन कर चुकता है, तब उसका रक्त-प्रवाह आमाशय और मेदे की ओर शुरू हुआ। इतने ही में उसने पाठशाला की ओर ढग बढ़ाना शुरू किया।

रक्त-प्रवाह पैरों की ओर दौड़ा। भोजन का हज़म होना रुक गया ! शाला में पहुँचते ही कठिन मानसिक प्रयोग शुरू हुए, तब प्रवाह मस्तिष्क की ओर दौड़ गया। मेदे की ओर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता। जिस प्रकार भारी दंगे के समय पुलिस के सिपाही कभी यहाँ दौड़े जाते हैं और कभी वहाँ, और कहीं का भी इन्तज़ाम यथोचित रीति से नहीं कर पाते ; उसी प्रकार रक्त-प्रवाह की दुर्दशा होती है—न तो वह पाचन-शक्ति में पूर्ण-रूप से सहायता दे सकता, न अध्ययन में, न व्यायाम में। यही कारण है कि बालकों में मन्दाग्नि की शिकायत रहा करती है। शाला जाते समय उनके पैर ढीले पड़ते हैं और व्यायाम में भी कुछ-न-कुछ ढोलापन दिखाई देता है।

अन्य-देशीय लोग दिन में चार-पाँच वक्त खाते हैं। उनमें न चौके के भगड़े, न लूहे का प्रपंच। परन्तु हिन्दुस्तानी बालक दिन में केवल दो बार पेट भरते हैं। हम लोगों की प्रथा के अनुसार मुख्य भोजन दिन में ही बनता है और शाम को सूखा-रूखा खाकर या चना चबाकर लोग काम करते हैं। मुख्य भोजन खाकर मनुष्य को विश्राम लेना चाहिये या हल्का कार्य करना चाहिये—जैसे अखबार बाँचना, गाना-बजाना या मनोरंजन के कार्य इत्यादि। परन्तु शहरों में बालकों को मुख्य भोजन के उपरान्त एक तो शाला जाते समय दौड़ लगानी होती है और फिर कठिन मानसिक कार्य करने होते हैं। इंग्लैंड वालों ने इन्हीं कारणों से मुख्य भोजन, जिसे 'डिनर' कहते हैं, रात को आठ बजे रक्खा है और बाकी चार भोजन—अर्थात् सुबह का खाना, जिसे छोटी हाजिरी कहते हैं ; दोपहर की टिफिन, जिसे दो बजे के करीब लेते हैं ; और शाम की चाय ; ये सब—हल्के होते हैं। अपनी जीवन-प्रणाली के अनुसार ही उन लोगों ने अपनी पाठशालाओं का समय भी नियत किया है। परन्तु वह समय हम लोगों की जीवन-प्रणाली के अनुकूल नहीं है।

हम लोग सूर्योदय के उपरान्त ही मानसिक कार्य आरम्भ कर सकते हैं। मादक पदार्थों की आदत न होने से सबेरे खुमारी भी नहीं रहती। इस कारण, उस समय मानसिक अध्ययन उत्तम प्रकार से कर सकते हैं। यदि पाठशालाएँ सुबह से दस साढ़े दस बजे तक खुली रहें, तो बच्चों से अधिक काम हो सकता है। फिर वे घर जाकर फुरसत से भोजन कर सकेंगे, और कुछ विश्राम भी ले सकेंगे। दोपहर की गर्मी कुछ कम होने पर शाला में फिर आकर भी काम कर सकेंगे। आमाशय में भोजन के पचने में डेढ़ घंटे लगते हैं। मुख्य भोजन के बाद उतनी देर शरीर और मन को विश्राम मिलना आवश्यक है। दो घण्टे उपरान्त भोजन अंतर्द्वियों में जाता है। वहाँ उसका रक्त बनता है। यह काम पाँच घंटे में होता है। जब तक वह जारी है, तब तक मानसिक या शारीरिक व्यायाम उचित रीति से हो सकता है।

हिन्दुस्तानी जीवन के अनुकूल हमारी शालाओं की व्यवस्था न होने के कारण हमारे नवयुवकों के शरीर व्याधियों से घिर जाते हैं। जातीय शिक्षा का यह उद्देश्य भी होना चाहिये कि शिक्षा-प्रणाली जीवन के अनुकूल हो, न कि बिल्कुल प्रतिकूल।

हिन्दुस्तानी बालकों का शरीर बड़ा ही लचीला होता है। वे अपने शरीर को अनेक प्रकार से घुमा-फिराकर मोड़-तोड़ सकते हैं। मैंने तो यहाँ तक देखा है कि पैर की एड़ी से अपने सिर को पीछे झुकाकर छू लेते हैं। ये शारीरिक गुण कुछ कम महत्व के नहीं हैं। इसके होने से योग-साधन का मार्ग सुलभ हो जाता है। परन्तु हमारी उदासीनता के कारण इस लचीलेपन की शक्ति कम हो रही है। हमारे देश की न तो आबहवा ऐसी है, न हम लोगों का भोजन ऐसा है कि अँगरेज़ बालकों के समान हृष्ट-पुष्ट तथा फौलादी हड्डियों या मांस-पोशियों का शरीर बन

सके । परन्तु लचीलापन शरीर में होने से हम लोग अनेक कार्य ऐसे कर सकते हैं, जो ब्रिटिश-बालक कभी न कर सकेंगे । उनके शरीर इतने ठोस हैं कि उनमें लचीलेपन की मात्रा बहुत कम रह जाती है । क्या हम लोगों का कर्त्तव्य यह नहीं है कि इस गुण के विकास की ओर लक्ष्य रखें ? फुर्तीला—परन्तु हल्का—अरबी घोड़ा भी तोपखानों के विशाल-काय बेलर-घोड़ों से ज्यादा उपयोगी हो सकता है ।



जातीय कमज़ोरियों को मिटाना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये

पिछले पृष्ठों में हिन्दुस्तानी बालकों की विशेषताएँ दिखलाई गई थीं और यह बतलाया गया था कि इनका पूर्ण विकास कराना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये। इसके साथ ही शिक्षा का कर्त्तव्य यह भी है कि जातीय कमज़ोरियों को मिटाने का भरपूर प्रयत्न करे। जो कमज़ोरियाँ किसी जाति में पाई जाती हैं, वे निश्चय ही उस जाति के बालकों में भी देखने में आवेंगी। इस कारण इतिहास पर विचार करने से अथवा बालकों के अवलोकन करने से उनकी न्यूनताएँ प्रकट हो सकती हैं और यदि उनके मिटाने का प्रयत्न बचपन से ही किया जाय, तो धीरे-धीरे मिट भी जाती हैं।

इतिहास के देखने से ज्ञात होता है कि हिन्दू जातियों में अनेक गुण होते हुए भी वह संय-शक्ति उपार्जन न कर सकी और इस कारण जब-जब विदेशियों से काम पड़ा, तब-तब उन्होंने एक के बाद दूसरी हिन्दू-जाति को दबा दिया। जिस समय पृथ्वीराज मुहम्मद ग़ोरी से टक्कर ले रहा था, उस समय कन्नौज के जयचन्द राठौर और अन्य राजपूत राजा तटस्थ रहे और ग़ोरी ने एक-एक करके राजाओं को गिराया और अपनी सत्ता बढ़ा ली। यही दृश्य बार-बार देखने में आता है कि जब एक पर आपत्ति आई, तो दूसरे ने परदानशीली अख़्तियार की। राजपूत

राजा इतने वीर और आत्म-त्यागी होने पर भी कभी इकट्ठे होकर अपना ज़ोर पठानों को या मुगलों को न दिखला सके, न वे अपने ही प्रान्त की अन्य जातियों का संगठन कर सके। यदि वे संगठन करके एक हो जाते या सब देशवासियों को तैयार करते, तो मुसलमानी बादशाहत का पाया उखाड़ फेंकते और हिन्दुस्तान का इतिहास ही कुछ दूसरा हो जाता।

इसी तरह जब ईस्टइंडिया कम्पनी के समय हैदर-अली पर आपत्ति आई, तब निज़ाम और मरहठे अलग रहे। यदि तीनों राज्य मिलकर अँगरेज़ों का मुकाबला करते, तो ईस्टइंडिया कम्पनी का पाया हिन्दुस्तान में न जमने पाता। मरहठों पर जब विपत्ति आई, तब भी सब मरहठा राज्य एक न हो सके। इसी तरह जब वेल्लेज़ली ने मरहठों को दबाया, तब निज़ाम अलग रहे। जब नागपुर के भोंसले लड़ने खड़े हुए, तब पेशवा और गायकवाड़ अलग। जब पेशवा पर आई, तब गायकवाड़, ग्वालियर, इन्दौर, सब अलग रहे। इसी प्रकार ईस्टइंडिया कम्पनी ने एक-एक करके सब मरहठा राज्यों को दबा दिया। हिन्दुस्तान के इतिहास में बार-बार ऐसे ही चित्र देखने में आते हैं। जिस प्रकार मुसलमानों में भ्रातृ-भाव एकदम आ जाता है, उसी प्रकार हिन्दू-जाति में, उनसे इतने वर्ष के संघर्ष के उपरान्त भी, एकता का भाव नहीं आ सका।

जो दोष जाति में देखते हैं, वही उसके बालकों में भी पाये जायँ, तो अचम्भा ही क्या है? सनातनधर्मी हिन्दू-बालक की प्रवृत्ति बहुत कुछ अकेले रहने की है। यदि वह अध्ययन करना चाहता है, तो अकेले बैठकर। भोजन करने के समय यदि कोई दूसरा आ जाय तो—‘श्वानवत् गुरुरायते’—श्वान के समान गुर्रांने लगता है—कारण, कहीं चौका न बिलट जाय! पूजा या सन्ध्या करेगा, तो कोठे के किसी कोने में अकेले बैठकर। व्यायाम का शौक हुआ, तो कमरे ही में दो-चार दंड-बैठक लगा लेगा।

यदि किसी कमरे में दस-बारह आदमी सोते हों, तो उसमें सोना भी उसे नागवार मालूम होता है। लोटा अलग, थाली अलग, बिछौने अलग, सब कुछ अलग-ही-अलग चाहिये। उसकी चित्तवृत्ति एकलौते जीवन की ओर अधिक जाती है। यदि दस लड़के एक कमरे में बिठला दिये जायँ और उनसे अपना अभ्यास (पाठ) आरम्भ करने को कहा जाय, तो वे बातों का जमाखर्च शुरू कर देते हैं। यदि किसी से पूछा जाय, तो वे यही कहते हैं कि दूसरों के कारण पढ़ाई नहीं होती।

बोर्डिंग हाउसों में ज़रा-ज़रा-सी बात पर आपस में खटकती है। बस एक दूसरे के विरुद्ध शिकायतें शुरू हो जाती हैं। अनेक माँ-बाप बोर्डिंग हाउस के सामाजिक जीवन को नहीं पसन्द करते। एकान्त जीवन में रहने से हर-एक विद्यार्थी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाता है। कनौजियों के विषय में कहावत है कि 'आठ कनौजिये, नव चूल्हे !' परन्तु यह बात केवल कनौजियों पर ही लागू नहीं है, वरन् सारे हिन्दू-समाज पर !

यदि किसी एक बालक पर किसी दूसरे का हमला हो, तो अन्य सब बालक भटपट किनाराकशी कर जाते हैं और उसकी मदद नहीं करते हैं। यदि कोई विद्यार्थी पढ़ने में कच्चा हो, तो दूसरे उसे सहायता देना अपना कर्तव्य नहीं समझते। हर-एक अपना मार्ग अलग पकड़ता है।

इस प्रकार के जीवन में संघ-शक्ति का विकास न होगा। इससे तो बड़े होने पर भी वे ही बालक अपनी-अपनी डरूली अपना-अपना राग अलापते रहेंगे।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में इतना तो गुण अवश्य है कि वह इन दोषों का निवारण थोड़ा-बहुत कर रही है। यह प्रणाली तीस-पैंतीस विद्यार्थियों को एक साथ कक्षा में बिठलाती है, एक ही साथ काम करने को कहती है, एक साथ सबक देती है, एक साथ झूल कराती है और ऐसे-

ऐसे खेल खेलाती है, जिनमें कम-से-कम बाइस विद्यार्थी एक साथ खेलें। इतना ही नहीं, बोर्डिंग-हाउसों में सब जाति और सब कक्षाओं के विद्यार्थियों को एक साथ एक स्थान में रखती है—उनका सोना, उठना, मुख-मार्जन, भोजन, प्रार्थना आदि नियत समय पर एक साथ कराती है।

इस प्रकार की शैली रखने से बालकों में सामाजिक जीवन की नींव पड़ने लगती है। यह भी देखने में आया है कि बोर्डिंग-हाउसों में रहने वाले विद्यार्थी इस प्रकार की दीक्षा से संघ-शक्ति उपार्जन करने में अधिक सफल हो जाते हैं—भिन्न-भिन्न जातियों तथा उपजातियों के बालक आपस में भ्रातृ-भाव से रहने लगते हैं—एक दूसरे की सहायता करते हैं और एक दूसरे के मित्र भी हो जाते हैं। ऐसे बालक, बड़े होने पर, सामाजिक जीवन चलाने में तथा संघ-शक्ति के उपार्जन में, घर पर रहकर पड़े हुए बालकों की अपेक्षा; अधिक सफल होंगे और नवीन जीवन में वे कुछ-न-कुछ कर भी सकेंगे।

इस दृष्टि से अँगरेज़ी-शिक्षा-प्रणाली हिन्दुस्तानियों के जातीय दोष हटाने में लाभकारी सिद्ध हुई है। परन्तु फिर भी सामाजिक जीवन बढ़ाने की ओर अधिक आवश्यकता है।

हम लोगों के दर्शन-शास्त्र यह सिखलाते हैं कि संसार मिथ्या और अनित्य है। प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि आत्मा अर्थात् नित्य की ओर अधिक ध्यान दे और अनित्य की ओर नहीं। इसके सिवा अनेक परिवारों में अहिंसा की व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती है।

इन दोनों शिक्षाओं के कारण हिन्दू-बालकों में मनन करने की शक्ति तो बढ़ गई है; परन्तु अवलोकन की शक्ति का ह्रास हो गया है; आँखें होने पर भी आँखों का पूरा उपयोग नहीं करते। वृक्षों, फूलों, पशु-पक्षियों और स्वाभाविक दृश्यों की तरफ़ उनका लक्ष्य बहुत कम रहता है। दंगों के

समय हिन्दू लोग ज़्यादा मार खा जाते हैं, उसका एक कारण यह भी है कि अवलोकन करते हुए चैतन्य दृष्टि से नहीं चलते। दर्शन-शास्त्रों तथा अहिंसा का उपदेश यह नहीं है कि पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियों का अवलोकन मनुष्य न करता रहे। अवलोकन-शक्ति को बढ़ाना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। उसके बिना मनुष्य सजग नहीं रह सकता।

अवलोकन-शक्ति न होने के कारण ही हिन्दू-बालक असंभव-से-असंभव बात पर भी सुगमता से विश्वास कर लेते हैं और हमारे देशी साहित्य भी उस त्रुटि के बढ़ाने में हाथ बटाते हैं। उदाहरणार्थ, कविताओं में कई बातों का विवरण मिलता है, जो अवलोकन से सिद्ध नहीं होतीं। जैसे—हंस का नीर-क्षीर-विवेक—अर्थात् हंस दूध और पानी को अलग कर देता है, चक्रवा और चकई का रात्रि के समय दूर रहना, चकोर का चन्द्रमा को देखते समय अग्नि के अंगारों का पचा जाना, चातक का स्वाती की बूँद की बाट देखना इत्यादि।

मैंने जंगलों में भ्रमण करते समय चक्रवा, चकई, चातक आदि का अवलोकन तो किया; पर इन बातों का कोई सबूत न पाया। अनेक प्रकार के सर्प भी देखे; परन्तु मणिवाला सर्प कभी देखने को न मिला। ऐसा मालूम होता है कि कवि लोगों ने घर बैठे ही ऐसी दन्त-कथाएँ गड़ी हैं।

बालकों को यह अभ्यास कराना चाहिये कि वे जो कुछ पढ़ें या सुनें, उसको अपने अवलोकन, विचार तथा तर्क की शक्ति के द्वारा जाँचें और केवल उन्हीं बातों को ग्रहण करें, जो अन्त में सत्य निकलें! यदि वे कही हुई बातों को सुन कर उनमें से सत्य का अंश निकाल लेना न सीखेंगे, तो बड़े होने पर विवादग्रस्त राजनीतिक प्रश्नों से सत्य निकालने की शक्ति उनमें कहाँ से आवेगी?

दूसरा दोष जो बालकों में देखने में आता है और जिसकी ज़िम्मेदारी

समाज पर है, वह यह है कि दृढ़-संकल्प बालकों की संख्या बहुत कम मिलती है। किसी कार्य के करने में वे आरम्भ-शूर अवश्य होते हैं; परन्तु उनका उत्साह थोड़े ही दिनों में ठण्डा पड़ जाता है। यह दोष उनका नहीं है, बल्कि यह जातीय दोष है और उसके मिटाने की चेष्टा करना प्रत्येक शिक्षक का विशेष ध्येय होना चाहिये।

परीक्षा-प्रणाली इस प्रकार की बनाई जाय कि बालकों के हृदय में धैर्य और दृढ़चित्तता की पक्की नींव पड़ जाय और वे जो काम अपने हाथ में लें, उसे पूरा ही करके छोड़ें। यदि पूरा न कर सकते हों, तो आरम्भ ही न करें। परन्तु, यदि आरम्भ कर ही दिया, तो फिर उनमें इस बात का आग्रह होना चाहिये कि वह काम अन्त तक किया ही जाय।

देखने में आता है कि वर्ष के आरम्भ में बालक-गण अपनी नोट-बुक या डायरी बड़ी सफ़ाई के साथ और नियम-पूर्वक लिखना शुरू करते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में उस कार्य में शिथिलता आ जाती है। माँ-बाप को नोट-बुक या डायरी खरीदने में पैसा खर्च करना पड़ता है। यदि साल-भर उसका अच्छा उपयोग किया जाय और वह इस प्रकार लिखी जाय कि अध्ययन के समय उपयोग में आ सके, तो पैसा खर्च करना सार्थक है। परन्तु, यदि महीने-दो-महीने लिख कर पीछे गोदगाद करना शुरू किया अथवा लिखना ही छोड़ दिया और यदि लिखा भी तो नियम-पूर्वक न लिखा, तो माँ-बाप के लिये उसका मूल्य व्यर्थ का अर्थदंड हो जाता है।

इस ढीलेपन का कारण यह है कि जब तक ऊपर से अंकुश लगता रहा, तब तक तो कुछ ठीक-ठाक लिखते रहे; परन्तु ज्योंही अंकुश नरम पड़ा कि लिखाई में ढील पड़ गई। किन्तु ऊपरी अंकुश से अल्प समय तक ही लाभ हो सकता है। उसकी अपेक्षा भीतरी अंकुश ही अधिक लाभकारी है। बालकों को यह हौसला दिलाया जाय कि जो कुछ

काम वे करें, उसे उत्तमोत्तम प्रकार से करने का उद्योग करें, बेगार टालने से कोई लाभ नहीं। जब उनके हृदय में बात जँच जायगी, तब उन्हीं का अंकुश उनसे काम करावेगा।

इस देश की परीक्षाओं की शैली भी इस दोष को बढ़ा रही है। हर साल के अन्त में परीक्षा होती है। उसमें छपे पर्चे दिये जाते हैं। यदि उनके उत्तर सन्तोषजनक निकले, तो विद्यार्थियों को उत्तीर्ण करा दिया जाता है। मेरी दृष्टि में उत्तीर्ण उन बालकों को कराना चाहिये, जो साल-भर तक अपना कार्य नियम-पूर्वक और धैर्य के साथ करते रहे हों। यदि ऐसे बालकों को कुछ नम्बर कम भी मिलें, तो भी वे पास होने योग्य माने जायें; क्योंकि वे जीवन की परीक्षा में फर्स्ट डिवीज़न में अवश्य आवेंगे। क्वचित् ही ऐसे बालक सालाना परीक्षा में फेल होते हों; परन्तु बहुत ज़्यादा ऐसे भी पास हो जाते हैं, जो साल-भर हीलेबाज़ी करते रहे और परीक्षा के कुछ पहले महीने-दो-महीने विशेष परिश्रम कर गये। ऐसे बालक परीक्षा पास कर लें; पर जीवन की परीक्षा में कभी नाम न पैदा कर सकेंगे। इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक बेकन साहेब ने लिखा है कि जो नाम पैदा करना चाहता है, वह पहले मिहनत का गुलाम हो जाय।

हम लोगों के जीवन में समय का महत्व नहीं है। न खाने का समय निश्चित, न सोने का, न अध्ययन का। टाइम-टेबिल बनाकर बहुत कम लोग उसके अनुसार अपनी जीवनचर्या का निर्वाह करते हैं। मित्र लोग भी मिलने आते हैं, तो नियत समय पर नहीं। जब मन में लहर आ गई, तब आ धमके। क्वचित् ही मनुष्य ऐसा नियमबद्ध होता है, जो काम करने के समय आये हुए मित्र को साफ़ कह दे कि यह समय हमारा काम करने का है, बातचीत करने का नहीं; इस समय कृपा कीजिये। इन कारणों से हिन्दुस्तानी समाज में नियमबद्ध जीवन रखना कठिन हो जाता है; परन्तु

नियमबद्ध जीवन न होने से मनुष्य कार्यार्थी नहीं हो सकता और कार्यार्थी न होने से दृढ़-संकल्प भी नहीं हो सकता ।

स्कूलों में बीच-बीच में छुट्टियाँ अधिक होने के कारण बालकों में नियमबद्ध जीवन की प्रणाली के अंकुर उगाना कठिन हो जाता है । छुट्टियों की इतनी भरमार है कि पाँच-छः रोज़ लगातार नियमबद्ध कार्य करने की आदत भी बालकों में नहीं पड़ पाती । आज त्योहार है, कल कोई मेला है, परसों कोई मैच है, नरसों किसी की मृत्यु हो गई है । ऐसे छोटे-छोटे बहानों पर स्कूलों के प्रबन्धक आदि छुट्टी दिलाया करते हैं । अगर इसी प्रकार छुट्टी दिलाना हो, तो बेहतर है कि साल के शुरू में एक दिन पाठशाला खोल दी जाय, साल-भर की फ़ीस वसूल कर ली जाय और फिर परीक्षा तक छुट्टी दे दी जाय ; भगड़ा खतम ! लोग यह नहीं विचारते कि इस प्रकार बीच-बीच में बाधा डालने से बालकों का जीवन कैसा अनियमित हो जाता है, उनमें समयानुसार काम करने की शक्ति नहीं आने पाती और भविष्य में इसी कारण उनकी जीवन-यात्रा दुःखमयी हो जाती है ।

पाठशालाओं में हर-एक काम ठीक समय पर, टाइम-टेबिल के अनुसार, होना चाहिये और जो शिक्षक अथवा विद्यार्थी लेट आवें, उनके साथ रूखा बर्ताव होना चाहिये । इसी तरह प्रत्येक शिक्षक तथा बालक को अपने घर का समय-विभाग भी नियमबद्ध करना चाहिये । काम के समय न बात होने पावे, न खेल । और, खेल के समय पूरा मन खेल में लगाया जाय । कुछ समय आमोद-प्रमोद के लिये भी रक्खा जाय, जब कि वार्ता-लाप, गायन, भजनादि में समय बिताया जाय । इसी प्रकार के नियम पालने से नियमबद्ध जीवन की आदत पड़ेगी ।

स्कूलों में जब किसी बालक से कुसूर हो जाता है, तो वह फ़ौरन् ही दूसरे का नाम बतला देता है कि उसके कहने से मैंने किया ; और वह

समझता है कि दूसरे के कहने में आ जाने में कोई दोष नहीं। नैतिक दृष्टि से उपद्रव करने वाले बालक की अपेक्षा इस प्रकार के बालक अधिक बुरे हैं। जो उपद्रवी है और अपना दोष स्पष्ट स्वीकार करता है और उसकी सज़ा भुगतने को भी तैयार है, वह बालक वीर है। उसको यदि सज़ा भी देनी पड़े, तो भी उसपर प्रेम होता है, मन में उसके लिये आदर का भाव आता है। परन्तु जो उपद्रव करे और फिर सज़ा पाने के समय भय से दूसरों पर दोष लादने की चेष्टा करे, उसे नामर्द समझना चाहिये। ऐसे बालकों से ग्लानि होती है। यदि उनसे पूछा जाय कि उनका सिखाने-वाला उनको कुँएँ में कूदने को कहता, तो क्या वे कूद पड़ते; इस सवाल पर वे लाजवाब हो जाते हैं।

बालकों का खून तेज़ रहता है और उनमें स्वाभाविक नटखटपन तो रहता ही है। उछलना, कूदना, धूम मचाना, गिरना, पड़ना आदि उनके बाल-स्वभाव के अनुकूल है। इसमें कोई नैतिक दोष नहीं। बड़े होने पर जब उनका रक्त कुछ ठंडा होगा, तब वे आरंभ ही शान्त हो जायेंगे।

बचपन में झाड़व परले सिर का शैतान था। उसके उपद्रवों के मारे माँ, बाप, शिक्षक आदि तंग आ गये थे। जब वह बड़ा हुआ, तब उसके निडर और प्रगल्भ स्वभाव के कारण ईस्टइंडिया कम्पनी का राज्य स्थापित हो गया।

बचपन में जो बालक दबी बिल्ली के समान भयभीत बना रहेगा, वह बड़े होने पर पुरुषार्थी नहीं हो सकता। पाठशालाओं में सुव्यवस्था रखने के लिये बालकों की नैसर्गिक चंचलता पर अंकुश लगाने की आवश्यकता होती है और कभी-कभी उन्हें सज़ा भी देनी पड़ती है। परन्तु उनको यह उपदेश देना आवश्यक है कि कुत्तर हो जाय, तो स्वीकार कर लो और आवश्यकता हो, तो उसका उचित दंड भी भुगत लो; परन्तु अपने सिर से दूसरों के सिर पर आफ़त डालने की चेष्टा मत करो; यह कायरता है।

दूसरों की चुगली खाना भी घृणित कार्य है। शिक्षक लोग चुगलखोर लड़कों को उत्तेजना न दें। बालकों को यही दीक्षा दी जानी चाहिये कि यदि कोई कार्य अनुचित हो, तो दूसरे चाहे जितना दबाव डालें, उनका विरोध करो और उनसे सहमत मत हो। परन्तु, यदि खेलवाड़ करना ही है, तो उसका भुगतान भी भुगतो, दूसरों को फँसा कर खुद मत बचो। जिस प्रकार नाटक या सरकस देखने के लिये हम लोग पैसे खर्च करते हैं, उसी प्रकार शैतानी करने की भी दक्षिणा देनी चाहिये।

इस प्रकार की दीक्षा से बालक स्वयं बुराईयों से टक्कर लेना सीखेंगे और साथ-ही-साथ वीर पुरुष भी बनेंगे।

अक्सर देखा जाता है कि आपत्ति के समय मनुष्य डुलमुल हो जाता है—कभी इधर दौड़ता है, कभी उधर; समय पर उचित कार्य नहीं कर सकता। दंगों के समय देखा जाता है कि कोई घातक पीछे से किसी दूसरे पर हमला करने जाता है, तो आसपास के लोग देख रहे हैं; परन्तु उन्हें सूझता नहीं कि क्या करें। और, जब तक वे कुछ निर्णय करते हैं, तब तक घातक अपना कार्य करके निकल भी जाता है। यदि लोग कि-कर्त्तव्य-विमूढ़ न बने रहें और तुरन्त सहायता पहुँचाने में तत्पर हो जायँ, तो घातक के लिये अपना कार्य करना कठिन हो जाय। बीच ही में कोई-न-कोई उसे पकड़ लेगा और इस प्रकार हत्याकाण्ड रुक जायगा।

अन्य देशों में इस तरह वार करना प्रायः कठिन है। कारण, जनता एकदम सहायता के लिये पहुँच जाती है। परन्तु यहाँ की जनता तुरन्त सहायता-कार्य में कूद नहीं पड़ती। इसका कारण यही है कि जल्दी से फैसला करने की आदत नहीं डाली गई। हाँकी, फुटबाल आदि खेल खिलाने का यही उद्देश्य है कि बालकगण हर घड़ी सजग रहना सीखें और आवश्यकता पड़ने पर उचित शीघ्रता से यथोचित कार्य आरम्भ कर दें।

इस दृष्टि से इन खेलों की दीक्षा बालकों के लिये बड़ी लाभकारिणी है।

ब्राह्मणों को जिस किसी ने भिक्षा-वृत्ति सिखलाई, उसने उस जाति के हक में अनर्थ कर दिया। उनकी वृत्ति का प्रभाव अन्य जातियों पर भी बुरा पड़ा। इस वृत्ति से मनुष्य में आत्म-गौरव नहीं रहने पाता। ज़रा कुछ तक-लीफ़ हुई कि चले भिक्षा माँगने। यह भाव बहुत कम लोगों में आता है कि 'माँगबो भलो न बाप से जो बिधि राखे टेक' और थोड़ा-बहुत अपने पुरुषार्थ से पैदा करने में बहादुरी है। उच्च जातियों के मनुष्य हाथ से कोई काम करने में शर्माते हैं। भीख माँगने में उन्हें शर्म नहीं आती; परन्तु अपने कपड़े अपने हाथ से धोने में या जूता साफ करने में लाज आती है। पुरुषार्थ से पैसा बनाने के महत्व की ओर हिन्दू-समाज को ध्यान देना चाहिये। ईमानदारी से तथा हाथ-पैर चलाकर अपना पेट पालने में क्यों संकोच होना चाहिये? देश में दानियों की कमी नहीं, पात्र के हित-अन-हित की ओर देखकर विचार-पूर्वक दान करने वालों की अलबत्ता: कमी है।

जैसा हाल समाज का है, वैसा ही विद्यार्थियों का भी है। ज़रा कुछ हुआ कि भिक्षा के लिये अर्ज़ी तैयार हुई, दो-चार कोमल-हृदय सज्जनों की सिफ़ारिश ली और चले भिक्षा माँगने। आज भी अनेक कार्य हैं, जिन्हें गरीब विद्यार्थी कुछ पैदा करने के लिये सुबह-शाम कर सकते हैं। जैसे—अखबार बेचना, सिनेमा-थियेटर में टिकट बेचना, अपढ़ों की चिट्ठियाँ लिख देना, बगीचों में थोड़ी देर पानी देना। ऐसे कामों के नाम सुन भिक्षार्थी मुँह बनावेंगे और कहने लगेंगे कि हम ऐसा नीच कर्म नहीं कर सकते, कुछ दे ही दीजिये। इस प्रकार की चित्तवृत्ति से आत्म-गौरव और स्वाभिमान उत्पन्न नहीं होने पाता। शिक्षा के अधिकारियों तथा दानियों को चाहिये कि केवल उन्हीं को सहायता दिलावें, जो उद्योग करके कुछ उपार्जन करने का भी प्रयत्न करते हैं।

अनुचित दान का कभी-कभी बुरा उपयोग देखने में आया है। कई विद्यार्थी चन्दे उगाह कर और भीख माँग कर अध्ययन करते हैं, परन्तु फिर भी सिनेमा, नाटक आदि देखने के लिये न जाने कहाँ से पैसे ले आते हैं। मैंने कई व्यवसायी लोगों के लड़कों को देखा, जो अपने बाप-दादों का व्यवसाय करके कुछ पैदा करना अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। एक कहारिन का लड़का था, जो चन्दे की रक़म से पढ़ता था। परन्तु जब उसको यह कहा गया कि यदि वह थोड़ी देर बोर्डिंग-हाउसों के मेसों के बर्तन माँजे, तो कुछ खर्चा निकल सकता है। सुनते ही वह भड़क उठा और कहने लगा कि ऐसा काम मैं नहीं कर सकता—मानों बासन माँजना चोरी-चमारी के समान घृणित कार्य है! इसी तरह, एक भिक्षा-वलम्बी नाई का लड़का था, जो हजामत अच्छी बना सकता था। परन्तु शाला में कोई यदि अपने चेहरे पर उँगली फेरकर हजामत बनाने का इशारा भर करे, तो वह बेतरह बिगड़ उठता था। जाजम या दरी बिछाने के वक्त फौरन हट जाता था। उसको यह नहीं सूझता था कि ईमानदारी से पैसाप्राप्त करने में कोई पाप नहीं। कोई भी हस्त-कौशल का कार्य यथार्थ में नीच कर्म नहीं हो सकता, किन्तु भिक्षा माँगना निस्पन्देह मनुष्य को नीच बना देता है।

एक अमेरिकन सज्जन, जो लक्षाधीश थे और जिनका लड़का शिकागो में शिक्षा पा रहा था, एक दिन मुझसे बड़े गौरव के साथ कहने लगे कि अब मेरा लड़का अपने खर्च का तीन-चौथाई कमाने लगा है; पार साल केवल आधा कमा सकता था। मैंने उनसे पूछा कि क्या आप अपने लड़के को पूरा खर्च नहीं भेजते, उसको क्यों तंग करते हैं? उत्तर मिला कि 'उसपर झूठा प्रेम करना मुझे स्वीकार नहीं है; मैंने नियम कर लिया है कि कम-से-कम आधा खर्च वह स्वतः उपार्जन कर स्वावलम्बी बने और शेष की पूर्ति मैं कर दूँगा। जब तक मनुष्य दो पैसे स्वतः नहीं प्राप्त कर

लेता, तब तक उसे पैसे की दर नहीं मालूम होती। यदि लड़का स्वावलम्बी न हुआ, तो जब उसे मेरी जायदाद मिलेगी, तब वह उसे खराब कर देगा।' जैसा फ़ारसी में कहा है कि 'माले मुक्त दिले बेरहम' अर्थात् मुक्त का माल मिलने पर मन में उसपर दया नहीं आती। मेरे प्रश्न पूछने पर उन्होंने बतलाया कि मेरा लड़का छुट्टियों में देहात चला जाता है और वहाँ किसानों की नौकरी करके दो-तीन डालर रोज़ पैदा करता है। इस प्रकार छुट्टियों में थोड़ा धन-संग्रह कर लेता है। जब कालेज खुलता है, तो सबह घरों के आगे बर्फ़ खोदकर कुछ प्राप्त कर लेता है, लोगों के जूते साफ़ करके भी पैदा करता है, और रात को होटलों में बर्तन माँजकर या भोजन प्रोस कर खाना और नगद भी प्राप्त कर लेता है। इस तरह येनकेन प्रकारेण, अर्थात् किसी भी तरह, अपने खाने-पहनने का खर्चा निकाल ही लेता है। मैंने देखा कि साहब तो बड़े कड़े दिल के हैं, तो मेम साहिबा को उकसाना शुरू किया, और पूछा कि आपको इससे दुःख नहीं होता कि लड़के का बाप सम्पन्न होने पर भी पूरा खर्च नहीं भेजता और अपने एकलौते पुत्र से कठिन परिश्रम कराके धन उपार्जन कराता है ? माता और भी टेढ़ी खीर निकली और बोली कि 'लड़के के पिता बहुत ठीक कर रहे हैं, उसको स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। अभी कुछ क़ूरता मालूम होती है, परन्तु शिकागो-सरीखे शहर में यदि बिना परिश्रम धन मिल जाय, तो लड़के को चस्का लग जायगा और वह खराब हो जायगा। मुझे अपने पुत्र का भविष्य देखना है, मैं झूठी दया नहीं करना चाहती।' बातों-ही-बातों में यह भी कहा कि अमेरिका में धनवान व्यक्ति भी इसी प्रकार स्वावलम्बन की शिक्षा देने में संकोच नहीं करते हैं ; क्योंकि उनका देश स्वतन्त्र है, वहाँ स्वावलम्बियों की आवश्यकता है, न कि मुक्तखोरों की।

इंगलिस्तान की पाठशालाओं में आत्म-शासन की शिक्षा कैसे दी जाती है ?

इंगलिस्तान में दो प्रकार की पाठशालाएँ होती हैं। एक तो पब-लिक स्कूल, जहाँ प्रत्येक विद्यार्थी को बोर्डिंग-हाउस में रहना पड़ता है और जहाँ देश के नेता तैयार किये जाते हैं। दूसरे वे साधारण स्कूल होते हैं, जहाँ जनता के बालकों को शिक्षा दी जाती है। आत्म-शासन की शिक्षा दोनों प्रकार की शालाओं में मिलती है। परन्तु पबलिक स्कूल की शिक्षा-प्रणाली का अवलोकन करने से विशेष लाभ हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि वहाँ की पद्धति की पूरी-पूरी नक़ल की जाय, या देश-काल-पात्र का विचार न किया जाय। उनमें से जो बातें हिन्दुस्तानी बालकों के लिये लाभकारी हों, उनका उपयोग करने में कोई दोष नहीं।

हाँ, पबलिक स्कूल के सब विद्यार्थी होस्टलों में रहते हैं। मास्टर लोग सकुटुम्ब उनके साथ होस्टल में ही रहते हैं। सबका खाना-पीना खेल आदि नियत समय पर एक साथ ही होते हैं। जो समय पर न पहुँचा, वह रह जाता है, उसकी मुरब्बत फिर कोई नहीं करता। यदि चाय पीने के समय कोई बालक सोता रहे, तो उसकी चाय गई, कोई बाट नहीं देखता। यदि रसोईदार को दया आई, तो रसोई-घर में बुलाकर भले ही एक प्याला पिला दे; परन्तु बाल-समाज में समय पर न आने वाले का निरा-दर होता है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को समय का बहुत खयाल रखना

पड़ता है और यदि कोई आधे मिनट के लिये भी लेट हो गया, तो माफ़ी माँग कर और अनुमति लेकर भीतर आवेगा। भोजन की घण्टी बजने पर पाँच मिनट के अन्दर सब आ जाते हैं और फिर भोजनालय का फाटक कहीं-कहीं बन्द कर दिया जाता है। जो बाहर रह गया, सो रह गया। इस कारण घंटी बजते ही सब कमरों से दौड़ शुरू होती है, क्वचित् ही कोई देर करता हो या धीरे-धीरे आता हो।

शाला के प्रत्येक कार्य के लिये बाल-अधिकारी नियत किये जाते हैं, जैसे—मानीटर, कप्तान, प्रीफेक्ट, बरसार इत्यादि। और, बालकों को यह दीक्षा दी जाती है कि जिस प्रकार शिक्षकों की आज्ञा मानते हो, उसी प्रकार इन बाल-अधिकारियों की भी आज्ञा मानो; क्योंकि वे उनके ही आदमी हैं और वे बाल-समाज के हित के लिये ही कार्य कर रहे हैं। एक हिन्दुस्तानी शिक्षक, जो विलायत के एक स्कूल में कुछ दिनों तक कार्य करते रहे थे, मुझसे बतलाते थे कि एक समय किसी आवश्यक कार्य के लिये वे दो-तीन मिनट को बाहर गये। इतने ही में वहाँ के हेडमास्टर भ्रमण करते हुए आ पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि एक छोटा-सा बालक कमरे का पहरा दे रहा है और प्रत्येक बालक अपने काम में मग्न है। हेडमास्टर ने पूछा कि तुमको किसने पहरा देने को कहा। तब, उसने उत्तर दिया कि 'मास्टर साहब तो कुछ नहीं कह गये, परन्तु सर्व-सम्मति से मुझे कक्षा ने यह भार सौंपा है कि हिन्दुस्तानी सज्जन को यह कहने का मौका न मिले कि अँगरेज़ बालक तभी तक काम करते हैं, जब तक उनपर अंकुश रहे। उनके सामने उत्पात मचाना उतना दूषित नहीं, जितना कि उनकी गैरहाज़िरी में।' इतने ही में वे हिन्दुस्तानी सज्जन लौट आये और बालकों का आत्म-गौरव देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उस कक्षा के विद्यार्थियों की अवस्था दस-ग्यारह वर्ष से अधिक नहीं थी! अँगरेज़ी

स्कूलों में छोटे-मोटे बहुत-से कार्य—जैसे झाड़ना, बटोरना, चिड़ी बाँटना, घण्टा बजाना आदि—सब बालक ही कर लेते हैं। इस कारण नौकर अधिक रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

बोर्डिंग-हाउसों में प्रत्येक बालक को अपने जूते साफ़ करना, अपना पानी लाना, बिछौने उठाना आदि सब कार्य अपने हाथ से करने पड़ते हैं। शाही और लार्ड-घराने के बच्चे भी सब काम अपने हाथ से करते हैं, निजी नौकर नहीं लाने पाते। कुछ बाल-अधिकारियों के हक बँधे हुए हैं। जैसे, उनके लिये दूसरे विद्यार्थी गरम पानी आदि बाहर से ले आते हैं; उनके जूते भी साफ़ करते हैं। यह काम बहुधा नीची कक्षा के विद्यार्थी कर देते हैं। इस प्रथा को फैगिंग (बेगार) कहते हैं, और अमीर-से-अमीर घराने के लड़के को भी बाल-अधिकारियों के लिये यह काम करना पड़ता है। सुनते हैं कि जब 'ईटन' की शाला में प्रिंस आफ़ वेल्स पढ़ने गये, तो उनसे भी बेगार कराई गई और उन्होंने खुशी से की।

जिस प्रकार जनता में एक प्रकार का संगठन है और भले-बुरे कामों की टीका होती है, उसी प्रकार स्कूलों का बाल-समाज प्रत्येक व्यक्ति के आचरण पर कड़ी निगाह रखता है। अनुचित या नीच कार्य होने पर शिक्षकों को कुछ नहीं कहना पड़ता, बालक-गण आपस में समझ-बूझ लेते हैं। यदि कोई बालक शिक्षक से झूठा बहाना कर छुट्टी ले जाय, तो कक्षा में तो कोई न बोलेगा; परन्तु बोर्डिंग में आने पर उसके साथी झूठ बोलने वाले की मरम्मत कर देते हैं। मास्टर को खबर भी नहीं होती कि कौन झूठ बोल गया; परन्तु बाल-समाज में उसकी कार्रवाई शुरू हो जाती है। शिक्षक-गण केवल इतना ही देखते हैं कि बालक-गण उच्च आदर्श लेकर अपना इन्तज़ाम खुद रखें।

कोई बालक कच्चे मन का या नामर्दान रहने पावे, इसपर भी बाल-

समाज का विशेष लक्ष्य रहता है। यहाँ तक देखा गया है कि जब कोई बालक प्रथम बार शाला में आया, तब उसकी परीक्षा की जाती है। चार बड़े लड़के एक कम्बल के चारों किनारे पकड़कर नवीन बालक को कम्बल पर जबरदस्ती लिटा उछालना शुरू कर देते हैं और छत से टकरा देने की चेष्टा करते हैं। यदि वह बालक चिल्लावे नहीं, अथवा हाय-तोबा न मचावे, तो इस परीक्षा में पास समझा जाता है। फिर कभी उसको पकड़कर आग के ऊपर सेंकते हैं; शर्त यह कि आग के चाहे जितने निकट जावे और उसको चाहे जितनी आँच लगे, वह आह न भरे। कभी ठण्ड के दिनों में सुबह के वक्त पकड़कर ठण्डे पानी के हौज़ में गोते देते हैं। ऐसी कठिन परीक्षाओं में जो पास हो जाना है, उसका मान बाल-समाज में होने लगता है; क्योंकि वह मर्द है, डरपोक नहीं। परन्तु जो इसमें पास नहीं होता, उसे अलग रखते हैं। उससे कोई बोलता नहीं, हर तरह से उसका तिरस्कार करते हैं। इन कारणों से, आपत्ति आने पर, क्वचित् ही अँगरेज़-बालक दूसरों के सामने आँसू ढालता अथवा चिल्ल-पों मचाता हो। इस प्रकार बाल-समाज ही प्रत्येक बालक को निडर और वीर बनाने की दीक्षा देता है।

इस प्रकार के दृश्यों का वर्णन सुनकर कदाचित् आप हाहाकार मचावें और कहें कि यह तो बड़ी भारी क्रूरता है, आखिर मास्टर लोग करते क्या हैं? किन्तु मास्टर लोग तो बीच में बोलते ही नहीं; क्योंकि उनका उद्देश्य भी भावी जनता को वीर बनाने का ही है। हमारे देश में क्षत्रियों को इसी प्रकार की शिक्षा किसी समय दी जाती थी, तभी वे लोग अतुल वीरता तथा पराक्रम के आदर्श दिखला कर दुनिया में नाम कमा गये हैं। अब समय ऐसा आया है कि केवल क्षत्रियों ही को नहीं, वरन् सारी जनता को वीर और पराक्रमी बनाना आवश्यक है। दूध-दही से नहलाते रहने से अब काम नहीं चल सकता।

इंगलिस्तान के बालकों को यह शिक्षा दी जाती है कि आपस के झगड़े आपस ही में तय करो, शिक्षकों के पास जाकर रोने-गाने से कोई लाभ नहीं। 'यदि कोई तुमको मारे, तो जवाब में मिश्रब्याज सहित उसको मारो; पिटकर मत आओ, पीटकर आओ।' जो बालक मार खाकर भाग जाता है, बाल-समाज में उसकी और भी दुर्दशा हो जाती है। उसके साथी बार-बार उत्तेजना देते हैं कि जाओ और फिर लड़ो; यदि फिर भी मार खाओ, तो फिर उद्योग करो; आततायी से हिम्मत न हारो, भिड़ते जाओ। यही कारण है कि वहाँ का प्रत्येक बालक विपक्षी से मुक्केबाज़ी करने के लिये तैयार रहता है और अपने को हर तरह से बलवान तथा युद्ध में निपुण बनाने का उद्योग करता रहता है।

बालकों में संघबुद्धि इतनी प्रबल है कि यदि किसी छोटे और कम-ज़ोर लड़के पर कोई बलाढ्य और धूर्त बालक आक्रमण करे, तो बड़े लड़कों में से कोई एक तो उसके बदले लड़ने को तैयार हो ही जायगा और जान लड़ाकर कमज़ोर बालक की रक्षा करेगा; परन्तु यदि समाना-वस्था के बालकों में मुठभेड़ हो, तो प्रत्येक को स्वावलम्बी होना पड़ता है। ज्योंही मुक्केबाज़ी शुरू हुई कि बाकी सब विद्यार्थी घेर कर खड़े हो जायेंगे, खूब लड़ने देंगे, बीच-बचाव न करेंगे, हारते हुए को उत्साह दिलायेंगे; केवल यही देखेंगे कि नियमानुकूल युद्ध हो रहा है कि नहीं। मुक्केबाज़ी के अन्त में सब मिलकर मलहम-पट्टी कर देंगे और फिर दोनों से आग्रह करेंगे कि हाथ मिलाकर फिर परस्पर मित्र हो जाओ। जहाँ हाथ मिलाया कि द्वेष काफ़ूर हुआ। बस झगड़ा वहीं ख़तम हो जाता है। इतना सब होने पर भी क्या मजाल कि कोई विद्यार्थी जाकर अधिकारियों को खबर कर दे।

नियमबद्ध युद्ध का यह मतलब है कि यदि एक व्यक्ति मुक्के से

लड़ता हो, तो दूसरा व्यक्ति लाठी या छुरे का प्रयोग न करे ; केवल मुक्के से लड़ै और जब कोई गिर जावे, तो फिर उसपर चार न करे ; ऐसा करना अधर्म समझा जाता है । इतना ही नहीं, ऐसा युद्ध करने वालों पर चारों तरफ से मार भी पड़ने लगती है, उसका वहाँ रहना मुश्किल हो जाता है ।

एक हिन्दुस्तानी विद्यार्थी, जो लन्दन यूनिवर्सिटी में पढ़ता था, बतलाता था कि एक बार ठंड के दिनों में जब बर्फ पड़ रही थी, कुछ मनचले विद्यार्थी छपर पर चढ़ गये और बर्फ इकट्ठा कर चिमनियों में से भीतर डालने लगे । नतीजा यह हुआ कि कॉलेज के कमरों को गर्म रखने के लिये जो आग चिमनी के नीचे जलाई गई थी, वह बुझ गई और सर्दियों के कारण कमरों में काम करना असम्भव हो गया । प्रोवोस्ट ने नोटिस निकाली कि जो लोग ऊपर चढ़े थे, वे आकर अपना नाम लिखावें और अपनी सज़ा भुगतें । तहकीकात शुरू नहीं की गई ; क्योंकि वे जानते थे कि कोई भी दूसरे का नाम न बतलावेगा । नोटिस निकलते ही छपर पर चढ़ने वाले और शैतानी करने वाले विद्यार्थी प्रोवोस्ट के कमरे में पहुँचे और अपना नाम लिखा दिया । उन लोगों से पूछने पर हिन्दुस्तानी विद्यार्थी को मालूम हुआ कि उनका मत यह था कि जब हमको शैतानी सूझी, तब उपद्रव किया ; अब जब सज़ा भुगतने का समय आया, तब हम क्यों मुँह छिपावें ।

वही सज्जन एक दूसरी कथा सुनाते थे, जिससे कि वहाँ के विद्यार्थियों की दीक्षा का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है । दो विद्यार्थियों में किसी कारण मार-पीट हो गई । एक दूसरे पर दावातें फेंकी गईं, पेपर-बैट फेंके गये, कुर्सियाँ फेंकी गईं और अन्त में लड़ाई खतम होने पर दोनों ने हाथ मिलाया और मित्र बन गये । मलहम-पट्टी के उपरान्त दोनों प्रोवोस्ट के कमरे में गये और रिपोर्ट की कि हम लोगों के कारण कुछ दावातें फूट

गई हैं और स्याही बिखरने के कारण दरी-गलीचे तथा दीवारें भी खराब हो गई हैं, और कुछ कुर्सियाँ भी टूट गई हैं ; अतएव आप कृपा कर यह बतलावें कि कॉलेज को क्या नुकसान हुआ, हम लोग दाम देकर क्षति की पूर्ति कर देंगे। प्रोवोस्ट का बिल आते ही उन्होंने दाम चुका दिया। किसी ने यह झगड़ा न उठाया कि किसके हाथ से क्या टूटा, किसका कुसूर था अथवा किसने कौन-सी चीज़ तोड़ी। ये सब प्रश्न आपस में ही तय कर लिये गये।

अँगरेज़ी में एक शब्द है 'डिसिप्लिन', जिसका पूर्ण अर्थ देने वाला शब्द हिन्दी में नहीं मिलता ! लेकिन इसके लिये कोई-कोई 'विनयन' शब्द का उपयोग करते हैं। इसकी खूबी इंगलैण्ड के स्कूलों में विशेष करके देखी जाती है। 'डिसिप्लिन' का अर्थ 'संयोगात्मक बुद्धि' है, जैसा कि अँगरेज़ी सेना में ख़ास करके देखने में आता है। जहाँ कोई हुकम दिया गया कि हजारों मनुष्य एक पल में, एक क़दम से, एक-चित्त होकर आज्ञा-पालन में जुट जाते हैं। न कोई ढील-ढाल करता, न बहानेबाज़ी, न बातचीत। फ़ौजी मेन्सूवर्स में सब कार्य ऐसी सफ़ाई, निर्विघ्नता तथा शीघ्रता से होते हैं कि देखते ही बनता है। एक पल भी खराब नहीं होता। एक मनुष्य भी ढीला-ढाला नहीं चलता। मनुष्य की क्या, जानवर तक नियमबद्ध होकर चलते हैं। परेड पर जितने सिपाही या कैम्प-फ़ालो-अर (Camp-follower) नौकर-चाकर सामने से निकलेंगे, उनके क़दम तुले हुए, वेग तुला हुआ, पोशाक स्वच्छ और सटी हुई—न तनी, न बटन ढीला। हर एक मनुष्य अपने कर्तव्य पर आरुढ़ दीखता है। नतीजा यह होता है कि हजारों सिपाही, सैकड़ों सवार और पचासों तोपें और गाड़ियाँ यहाँ से वहाँ जाती हैं ; पर न कोई किसी के रास्ते में पड़ता है, न कोई दुर्घटना ही होती है। परेड देखने से 'डिसिप्लिन' के अर्थ का ज्ञान थोड़ा-

बहुत हो सकता है। इसी कारण अँगरेजी सेना ने, थोड़ी होने पर भी, प्रबल शत्रुओं का मुकाबिला सफलता-पूर्वक किया है।

फौजी-शिक्षा का प्रभाव इंग्लैंड की पाठशालाओं में विशेषकर देखने में आता है। प्रत्येक पब्लिक स्कूल में एक केडेट-कोर (Cadet-corps) रहता है, जिसके द्वारा बालकों को सैनिक शिक्षा दी जाती है। इस शिक्षा के प्रभाव से छोटे बालकों के मन से बन्दूक, तलवार अथवा बायोनेट (किरिच) का भय निकल जाता है। दूसरे, उनको देश-रक्षा की शिक्षा भी मिल जाती है; और सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उनके जीवन पर फौजी डिसिप्लिन का बड़ा भारी प्रभाव पड़ जाता है।

इसी कारण, यदि दो-चार विद्यार्थी कहीं घूमने-फिरने जायेंगे, तो प्रायः एक ही पोशाक में। वे एक लाइन में बराबर कदम से चलेंगे। उनके पैर जम कर वीरों के समान ज़मीन पर पड़ेंगे। छाती अकड़ी हुई और सिर जैँचा रहेगा, मानों दुनिया में उनको कोई भय नहीं है। यदि एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाना हुआ, तो एक लाइन बनाकर डिल के नियमों के अनुसार आवागमन शुरू हो जायगा। कक्षा में खड़े होंगे, तो कसकर सीधे और शीघ्रता के साथ। यह क्वचित् ही देखने को मिलेगा कि अपनी डेस्क का सहारा लेकर और उसपर दोनों हाथ रखकर चौपायों के समान कोई बालक खड़ा होवे।

जब तक घंटा नहीं बजता, तब तक अँगरेज-बालक बड़े चंचल और उपद्रवी होते हैं। कोई किसी से लड़ता है, कोई दूसरे पर निशाना लगा रहा है, कोई दूसरे को आलपिन चुभाकर भाग रहा है, कोई किसी की पाकेट में मेढ़क छोड़ आता है! प्रायः सब इसी तरह धूम-धड़ाका मचाते हैं, मानों साक्षात् बानर-सेना आ गई है। परन्तु खूबी यह है कि घण्टा बजते ही उनमें एकदम परिवर्तन हो जाता है। वे एक दम में लाइन

बनाकर शीघ्रता के साथ अपने-अपने कमरों में जा पहुँचते हैं। यह सैनिक शिक्षा का प्रभाव मालूम होता है।

अँगरेज़ी स्कूलों में, पढ़ने-लिखने पर हिन्दुस्तान-सरीखा महत्त्व नहीं देते। शाला के बाहर शायद ही कोई बालक घण्टे-डेढ़-घण्टे से अधिक काम करता हो। उनका बहुत-सा समय खेल-कूद, व्यायाम और आसोद-प्रमोद में जाता है। यदि कोई बालक पढ़ने में होशियार न हो, तो उसको कोई बुरा नहीं समझता। परन्तु खेलों में तथा व्यायाम में जो नाम कमा ले, उसका मान बहुत होता है। कारण यह है कि अँगरेज लोग शरीर-सम्पत्ति के संचय का विशेष महत्त्व समझते हैं। वे जानते हैं कि जो इसमें श्रेष्ठ रहेगा, वह सेना, पुलिस, कारखाने आदि में—जहाँ हुक्मत की और दूसरे मनुष्यों पर प्रभाव डालने की आवश्यकता होती है—खिलाड़ी या पुरुषार्थी मनुष्य ही सफल होगा। उसे आपत्ति पढ़ने पर तुरन्त सूझेगा कि क्या करना और क्या न करना चाहिये। पोथी-पण्डित ऐसे समय में बेकाम निकलते हैं।

सहकारी खेलों से आत्म-शासन की शिक्षा भी मिलती है, संयोगात्मक-बुद्धि भी उत्पन्न होती है और ये सब गुण स्वतन्त्र देश में लाभकारी होते हैं।

हिन्दुस्तान की शालाओं तथा कालेजों में क्या उद्योग हो रहा है ?

पिछले पृष्ठों को पढ़कर आपके हृदय में सहसा यह प्रश्न उठेगा कि हिन्दुस्तान की पाठशालाओं तथा कालेजों में बालकों को प्रजातन्त्र-प्रणाली के जीवन के अनुकूल पुरुषार्थी नव-युवक बनाने का क्या उद्योग हो रहा है। गौर कर देखने से मालूम होगा कि 'है रफ्तार बेढंगी, जो पहले थी वही अब है।'

देश तूफान-मेल की चाल से स्वतन्त्रता की ओर जा रहा है ; परन्तु स्कूलों तथा कालेजों में शिक्षकगण अभी इसी बात पर तुले हुए दीखते हैं कि दुनिया कहीं भी जाय, हम तो उसी रास्ते जायेंगे, जिस रास्ते हमारे पिता-प्रपितामह गये थे। यह माना कि काशी-प्रयाग-सरीखे इने-गिने विद्या-केन्द्रों में कभी-कभी कुछ उद्योग देखने में आते हैं ; परन्तु फिर भी शिक्षित-समाज का लक्ष्य इस बात पर नहीं गया है कि भावी जनता को लोकतन्त्र-प्रणाली के लिये तैयार करना है। कम-से-कम प्रति-शत ९५ विद्यालय ऐसे मिलेंगे, जहाँ इस तरह के प्रश्नों पर उद्योग तो दूर रहा, विचार तक नहीं हो रहा है।

यदि स्काउट-शिक्षा दी जाती या सहयोगात्मक खेल सिखाये जाते हैं, तो उनमें भी केवल इतना ही उद्देश्य निहित रहता है कि हुक्काम खुश रहें और लोगों को समय-समय पर कुछ तमाशा दिखा दिया जाय।

यदि होस्टल खोले गये हैं, तो वहाँ के जीवन में भी ग़रीब-अमीर का भेद, जाति-पाँति के भेद, हुकूमत की शान, नौकरों की भरमार, भिक्षा-वृत्ति पर प्रेम, इन्तज़ाम में ढील-ढाल, खर्च का हिसाब देने में उदासीनता आदि अनेक दोष देखने में आते हैं। जाति-पाँति के भेद का अर्थ केवल यह है कि वहाँ एक जातिवालों का दूसरी जातिवालों से खिंचे रहना या द्वेष रखना स्पष्ट भलक जाता है। इस प्रकार के होस्टलों में बालक आत्म-शासन के जीवन के योग्य तैयार नहीं होते। तैयार तो तब होंगे, जब अमीर-ग़रीब का भेद न रहे, सब एक दृष्टि से देखे जायँ, प्रत्येक विद्यार्थी को नियमित स्थान और सुभीते दिये जायँ। अमीर-घर के बालक को अलग कमरा, निजी नौकर या व्यूटर देने से उसमें जनतावाद की जागृति या प्रवृत्ति न होगी। वह दूसरों से अपने को अलग समझेगा। उसमें स्वावलम्बन की शक्ति न आवेगी। वह सामाजिक जीवन में रहने योग्य न होगा। चाहिये यह कि स्कूल में न कोई भैया साहब बनने पावे, न कोई कुमार साहब। सब लड़के सिर्फ लड़के ही रहें। हर-एक को अपने बिस्तर उठाना, कपड़े साफ करना, धोती धोना, समय पर अभ्यास और व्यायाम तथा भोजन करना सीखना चाहिये। शाला-क्षेत्र में ग़रीब या अमीर, ऊँच या नीच आदि का भेद लूकर भी नहीं आने देना चाहिये। जो नियम एक बालक के लिये है, वही सबके लिये है। किसी से मुरब्बत-मुलाहजा करना ही न चाहिये।

बोर्डिंग-हाउस के सब कार्य बाल-पंचायत और बाल-अधिकारियों के द्वारा ही कराया जाना चाहिये। कमरे की सफ़ाई और आरायश उन्हीं के जिम्मे छोड़ना चाहिये। मेस का इन्तज़ाम भी उन्हीं के सिर पारी-पारी से ढालना चाहिये। यदि किसी अमीर के लड़के को बारी हो, तो वह भी स्वतः बाज़ार जाकर सामान खरीदे और पंचायत के सामने हिसाब दे

और उसकी जाँच करावे। जिनको फ़ीम आदि की रियायत दी जाती है, उनसे शालोपयोगी कार्य थोड़े-बहुत अवश्य कराये जायँ। नियम यह होना चाहिये कि जिसके साथ समाज कुछ उपकार करे, उसका भी कर्तव्य है कि वह भी स्वयं समाज का कुछ उपकार करे। यही स्वतन्त्र देश का आदर्श है।

यदि इंगलिस्तान की शालाओं में आत्म-शासन की दीक्षा दी जाती है, तो क्या हिन्दुस्तान में नहीं दी जा सकती? बालकों का स्वभाव सारी दुनिया में एक-सा होता है। उनमें स्वाभाविक भेद-भाव नहीं रहता। इसलिये जन-शासन-प्रणाली के अंकुर यहाँ के बालकों में भी मिलते हैं। योग्य शिक्षक और उचित दीक्षा मिले, तो यहाँ के बालक भी बहुत सच्चे, समय के पाबन्द, सेवा तथा न्याय के प्रेमी, अन्याय के विरोधी, पर-स्वार्थी और वीर हो सकते हैं। स्वतन्त्र देशों की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार दीक्षा देकर मैंने स्वतः अनुभव किया है कि हिन्दुस्तानी बालक या विद्यार्थी उस प्रणाली को ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं। आरम्भ में कठिनाइयाँ अवश्य पड़ती हैं; परन्तु अड़चनों को पार किये बिना दुनिया में कोई उत्तम कार्य हो ही नहीं सकता। पुरुषार्थी शिक्षकों का धर्म है कि उन कठिनाइयों को भेड़ें और नवीन जीवन के लिये अनुकूल दीक्षा देना प्रारम्भ करें।

शिक्षकों को पूर्ण सफलता तभी मिल सकती है, जब माँ-बाप भी नवीन आदर्शों को समझ लें और स्कूल के कार्य में बाधा न डालें; और यदि कोई कार्य उनकी चित्तवृत्ति के विरुद्ध हो, तो मन में मैल भी न लावें। उदाहरण के लिये, यदि बालकों को हाकी-फुटबाल आदि वीरोचित खेल खिलाये जाते हैं, तो कभी-कभी उनके घर के लोग शिकायत करते हैं कि मास्टर लोग पढ़ाने-लिखाने पर तो ध्यान नहीं देते; परन्तु बच्चों के

हाथ-पैर तुड़वाने का इन्तजाम किया करते हैं ; ऐसे खेल चूल्हे में जायँ । यदि बच्चों से यह कहा जाय कि जिसने मारा, उसे पीटकर आओ, तो घर से मनाई हो जाती है कि बेटा ! खबरदार, भले आदमियों का काम यह नहीं है कि किसी से जाकर लड़ें ।

बहुधा देखने में आता है कि ज़रा-सा झगड़ा या मारपीट हो जाने पर स्कूल के विद्यार्थियों की तो बात ही क्या, कालेज के विद्यार्थी तक आँसू बहाने, रोने या कराहने लगते हैं । कहीं कुछ भय हुआ कि दुम दबाकर भाग जाते हैं । उन्हें यह कहते शर्म नहीं आती कि मैं तो भाग आया । उड़ती खबर पाकर अभिभावक लोग धड़ाधड़ तार और चिट्ठियाँ भेजते हैं कि हम अपने लड़के को जोखिम में नहीं डालना चाहते, फ़ौरन् भेज दीजिये । जब तक लोहा तपाया नहीं जाता, तब तक फ़ौलाद नहीं बनता । इसी प्रकार, जब तक मनुष्य के जीवन में जोखिम नहीं आते, तब तक वह वीर भी नहीं हो सकता । पोच लोग दुनिया में क्या कर सकेंगे ? क्या वे अपनी धोती भी सँभाल सकेंगे ? क्या उनसे आशा की जा सकती है कि दीन-दुखियों अथवा देश की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो सकेंगे ?

यदि बच्चों को नामर्द ही बनाना है, तो स्वराज्य माँगना या उसके लिये उद्योग करना व्यर्थ है । अभी तक ऐसा होता रहा है कि यदि कोई मनुष्य मार खाकर घर में आ छिपे, तो घर के लोग सराहना करते हैं कि बेटा, अच्छा किया जो भाग आया ! बिरले ही मनुष्य उसे ललकारते रहे हों कि जा नामर्द, मार कर आ, नहीं तो घर में न घुसने पावेगा । इस प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण हमारे देश-वासियों को सात-आठ सौ वर्षों तक पर-तन्त्रता की पीड़ा भुगतनी पड़ी है । शायद अब तो लोगों का पेट भर गया होगा !

मारपीट की बात तो दूर रही, बिचारे बच्चों को ज़रा-ज़रा-से साहस के

कार्य करते समय कोई-न-कोई महात्मा टोक देते हैं। जहाँ वह पेड़ पर चढ़ने लगा कि धौल-धण्य की दक्षिणा मिली। यदि वह तैरने का शौकीन है, तो फिर किसी महाशय ने डरा दिया कि आगे मत जा, डूब जायगा—चाहे ऐसा कोई भय हो या न हो। यदि किसी ने पहाड़ पर चढ़ने का हौसला किया, तो फिसलने का डर सौगुना बतलाकर उससे उतरने का आग्रह करेंगे। इसी प्रकार, किसी साहस के कार्य में विघ्न-ही-विघ्न मिलते रहने से वीर बालक भी निरुत्साही और अकर्मण्य बन जाते हैं।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि बालकों को व्यर्थ जोखिम में डालना चाहिये अथवा उचित भय न दिखलाना चाहिये; परन्तु वास्तव में जो कुछ हो, उससे बढ़ाकर भी नहीं कहना चाहिये। पेड़ पर चढ़ सकना एक आवश्यक गुण है। जो मनुष्य पेड़ पर नहीं चढ़ सकता, वह कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर, अपने जीवन की रक्षा नहीं कर सकता। निस्सन्देह पेड़ पर चढ़ने में कुछ भय अवश्य है। तो भी बड़ों का कर्त्तव्य है कि बालकों को चढ़ने दें और इस बात की पेशबन्दी कर लें कि फिसलने पर उसको बीच ही में सँभाल लेंगे। भूत-प्रेत और चोर-डाकू की भूरी धमकियाँ देकर बच्चों को हौल-दिल करना बुद्धिमानी नहीं है।

स्कूलों में डाक्टरी परीक्षा शुरू हुई है; परन्तु अभी उससे यथोचित लाभ नहीं हो रहा है। इसका कारण एक तो यह है कि अभी डाक्टरों में यह भाव बहुत कम आया है कि एक भी बालक के कमजोर रह जाने से एक देश-भाई का जीवन दुःखमय होगा। शिक्षक लोग भी डाक्टर की रिपोर्ट पाने पर उसका महत्व नहीं समझते। यदि किसी बालक का एक दाँत खराब हो गया है, तो उसके मानी यह है कि उसको अपना भोजन ठीक रीति से चबाने में कुछ-न-कुछ कठिनाई अवश्य हो रही है। एक दाँत में कीड़े पड़ने से धीरे-धीरे दूसरे दाँत भी खराब होंगे, भोजन ठीक न

चवाने के कारण हाज़मा बिगड़ेगा, हाज़मा बिगड़ने से रक्त कम बनेगा, रक्त कम बनने से बुद्धि शिथिल होगी और शरीर में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होंगी । यदि उस दाँत की सफाई उसी क्षण करा दी जाय और दाँत का गड़ढा भर दिया जाय, तो बालक इन सब आपत्तियों से बच जायेगा ।

अंगरेज़ी में एक दास्तान है कि लड़ाई में जाते समय घोड़े की नाल में से कील निकल गई, कील के निकल जाने से नाल गिर गई, नाल के गिर जाने से घोड़ा लँगड़ाने लगा, घोड़े के लँगड़ाने से सवार बेकाम हो गया, सवार के बेकाम होने से फ़ौज हार गई और फ़ौज के हारने से देश हाथ से निकल गया । ठीक ऐसा ही हाल बालकों के शरीर में से छोटे-मोटे रोग तुरन्त निकाल देने से होता है ।

डाक्टरी परीक्षाओं से मालूम होता है कि हाई-स्कूल की शिक्षा समाप्त करते-करते प्रायः एक-तिहाई विद्यार्थियों के शरीर में कुछ-न-कुछ रोग लग जाते हैं । इसका अर्थ यह होता है कि अपने सांसारिक जीवन आरम्भ करने के पहले ही प्रायः एक-तिहाई विद्यार्थियों के गले में रोग-रूपी चक्की धँध जाती है । हाई-स्कूलों में विद्यार्थियों की उम्र चौदह से अठारह-उन्नीस वर्ष तक की होती है । और, इस अवस्था में यदि कोई रोग लग गया, तो वह जन्म-भर सताता है । इसके साथ ही, यह अवस्था ऐसी है कि आरोग्य पर यदि उचित ध्यान दिया जाय, तो बालक उस अवस्था में नीरोग तो रहेगा ही, उसके शरीर की बाढ़ भी अच्छी होगी—उसका शरीर कस जायगा, वह जीवन-भर औरों की अपेक्षा अधिक सुखी रहेगा । इस अवस्था में बीमारी बहुत कम होती है, मृत्यु-संख्या का औसत बिल्कुल न्यून होता है ; और ऐसा कहना असत्य न होगा कि यह अवस्था—जिसे कुमार-अवस्था भी कहते हैं—जीवन की सबसे अच्छी अवस्था है । परन्तु, यदि इसमें लापरवाही की जाये, तो जवानी के रोगों

की जड़ (जैसे—बवासीर, राजयक्ष्मा, प्रमेह, हृद्रोग, मन्द-ज्योति आदि) इसी अवस्था में जम जाती है ।

इस अवस्था में बालकों की मानसिक, शारीरिक और नैतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव अत्यन्त शीघ्रता से होना शुरू होता है । यदि उनके विकास के लिये पूर्ण अवकाश दिया जाय, तो इन चार-पाँच वर्षों में ही कायापलट हो जाता है—उनमें ब्रह्मज्ञान, समाज-सेवा, वीरता, सामाजिक जीवन आदि के उच्च भाव प्रबल होते हैं । और, यदि घर में तथा स्कूलों में सह-कारी व्यायाम, नीरोग जीवन (ब्रह्मचर्य), स्काउटिंग, ड्रिल आदि युक्तियों द्वारा उनके विकास में सहायता दी जाय, तो वे एक आदर्श नागरिक बन जायेंगे ।

इस अवस्था के महत्व को देखकर यही सिद्धान्त निकलता है कि नागरिक बनाने के लिये हाई-स्कूलों से बढ़कर स्थान अथवा कुमारावस्था से बढ़कर समय और न मिलेगा । इंग्लैंड में भी हाई-स्कूलों की शिक्षा को जितना महत्व दिया जाता है, उतना कदाचित् यूनिवर्सिटी की शिक्षा को नहीं देते । कारण, आदमी का बनना या बिगड़ना कुमारावस्था में ही हो जाता है ।

भाग्यवश हिन्दू-समाज की दुर्भ्यवस्था के कारण अनेक हिन्दू बालकों का विवाह इसी अवस्था में हो जाता है । इस कारण वे ब्रह्मचर्य की दीक्षा नहीं पाने पाते । ब्रह्मचर्य के न रहने से उनके शरीर की बाढ़ नहीं होने पाती । उनका रक्त पतला और कमजोर हो जाता है । फलतः उनकी बुद्धि भी क्षीण हो जाती है । जो अवस्था पूर्ण उद्योग करने की है, उसमें शिथिलता और आलस्य सवार हो जाते हैं । सैकड़ों युवक, जो विवाह होने के पहले हर तरह से उत्साह-पूर्ण दीखते थे और जिनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता था, घर में बहू आने के उपरान्त ऐसे गिर जाते हैं,

मानों उनमें धुन लग गया हो । ऐसे बालक की दशा देखकर किसी भी देश-प्रेमी को बड़ा दुःख होता है ; परन्तु घरों में समाज की रूढ़ि का बल इतना प्रबल है कि माँ-बाप न आगे देखते न पीछे, बिचारे युवकों की कुर्बानी कर देते हैं ।

इसका फल हिन्दू बालक की शरीर-सम्पत्ति पर बहुत ही बुरा पड़ता है । उसकी बाढ़ सोलह वर्ष के उपरान्त प्रायः रुक जाती है । उनमें जवानी के रोग कुमार-अवस्था में ही जड़ पकड़ लेते हैं । योरप के कुमार तथा उन भारतीय जातियों के कुमार, जिनमें बाल-विवाह नहीं होता, अठारह-उन्नीस वर्ष तक बराबर बढ़ते रहते हैं ; उनका शरीर पुष्ट होता रहता और रक्त भी पूरा-पूरा बनता रहता है । परन्तु अनेक हिन्दू बालकों को अभाग्य-वश समाज हलाल कर डालता है । क्या अब भी समाज न चेरेगा ?

प्रयोगिक मनोविज्ञान तथा अनुभव द्वारा भी यह सिद्ध हुआ है कि भूखे पेट अध्ययन करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता ; बल्कि अनेक हानियाँ होती हैं । बालकों तथा कुमारों को पेट के सहारे के लिये बीच-बीच में थोड़ा खाना मिलना चाहिये, तभी अध्ययन से लाभ हो सकता है । हमारे यहाँ नौ-पाढ़े-नौ बजे भोजन करके घर से बालक निकलते हैं । फिर शाम तक उन्हें पूरा कड़ाका रखना पड़ता है । खाली पेट रहकर ही उन्हें तीन-चार बजे तक अध्ययन और फिर शाम को व्यायाम आदि करना पड़ता है । गरीब घरों के बालकों को न सुबह पेट-भर खाने को मिलता न शाम को । जब पेट भरने का मसाला नहीं है, तब पढ़ा-पढ़ाकर हम उनमें कौन-से सुखीब के पर लगा सकते हैं ?

इन्हीं सब बातों का विचार करके इंगलैंड के शिक्षाधिकारियों ने यह नियम कर दिया है कि दोपहर को डेढ़-दो बजे के बीच कुछ थोड़ा-बहुत भोजन करना ही चाहिये । और, जिन बालकों के माँ-बाप दोपहर

के भोजन का खर्च नहीं दे सकते, उनकी टिफिन का खर्च चन्दे से या स्कूल की ओर से दिया जाता है। वहाँ के लोग यह समझते हैं कि भूखे पेट कठिन परिश्रम करना लाभकारी नहीं है और गरीब लड़कों से अधिक मानसिक परिश्रम लेने से उनका शरीर टूट जाता है—उनको अनेक रोग लग जाते हैं।

हिन्दुस्तान में लोगों को टिफिन की आदत नहीं है; परन्तु फिर भी मानसिक परिश्रम करनेवालों को थोड़ा-सा पेट का आधार आवश्यक है। ईश्वर ने गरीब देश के निवासियों के लिये सस्ता और सुलभ प्रायः चना रूपी अन्न दिया है। इसमें नाइट्रोजन, फ़ास्फ़स तथा नमक, सब उचित परिमाण में मिलते हैं और एक-दो-पैसे के चने में पेट को काफी आधार हो जाता है। और, यदि छिलका-सहित खाया जाय, तो उसमें जो नमक है, वह विकार नहीं होने देता। स्कूलों में बहुधा देखने में आता है कि जिनके पास पैसा है, मिठाई खाते हैं, जो विशेष लाभकारी नहीं है। यदि वे चना खाएँ भी, तो छिलका-रहित खायेंगे, जो विकारी हो जाता है।

हिन्दुस्तान में दानियों की कमी नहीं; परन्तु गरीब विद्यार्थियों को दोपहर के समय और कुछ नहीं, तो पैसे-दो-पैसे के चने ही खिला देने वाला मेरी समझ में बड़ा ही पुण्यात्मा और देशप्रेमी होगा। कारण, ज़रा-सी मदद से वे ही बालक नीरोग नागरिक होंगे और अध्ययन भी अच्छा कर सकेंगे।

स्कूलों में प्रत्येक बालक से कुछ-न-कुछ दस्तकारी का काम अवश्य कराना चाहिये। जैसे—मैनुएल ट्रेनिङ्ग (लकड़ी का काम), बागीचे में पानी देना, कार्ड-बोर्ड लेकर तरह-तरह की वस्तुएँ बनाना इत्यादि। इससे एक लाभ तो यह होगा कि हस्तकार्य करने में किसी को शरम न मालूम पड़ेगी, और उच्च जातियों के लड़कों के मन से—जो काम करने के

समय अपनी हतक-हुजत समझते हैं—यह मिथ्या भाव निकल जायगा।

शालाओं में यह भी सिखलाना चाहिये कि ईमानदारी से पैसा पैदा करने में कोई शर्म नहीं है। राजा विक्रमादित्य लाखों रुपये रोज़ दान करता था; परन्तु वही राजा अपने तंबू में नदी से जल भर लाता था और चटाई पर सोया करता था। मुगल-बादशाहों में से कई कुछ-न-कुछ दस्तकारी के काम किया करते थे। हमारे देश के आदर्श तो ऐसे हैं; परन्तु आजकल न जाने कहाँ से यह अक्ल लोगों में समाई है कि उन्हें हाथ-पैर चलाने में शर्म मालूम होती है। स्कूल के लड़कों से न पुड़िया बनाते बने, न पोटलो की गाँठ कसकरके लगाते बने, न बिस्तर कसकर बाँधते बने। ढोली धोती ने नव-युवक बाबू साहबों को ढोला और बेकाम बना दिया है। इसलिये प्रत्येक विद्यार्थी से कुछ-न-कुछ काम ऐसा लिया जावे कि कम-से-कम यह शर्म तो छूटे। काम करने से बुद्धि का विकास भी होता है। पोथी-पण्डित केवल पढ़े ही होते हैं; परन्तु काम करनेवाले पढ़ते भी हैं, गुनते भी हैं।

स्कूलों में चुगलखोरी को उत्तेजना नहीं देनी चाहिये। जो चुगली खाता है, अथवा गुप्तनाम पत्र भेजता है, वह यथार्थ में नामद है, इसी प्रकार के लोग बड़े होने पर मुकुन्दमेबाजी और झूठी गवाही में पड़ जाते, जिसके कारण जमींदार और किसान दोनों तबाह हो जाते हैं।

बालकों में सहयोगात्मक व्यवसाय की नींव डालनी चाहिये। इसके लिये एक उत्तम उपाय यह है कि उन्हें 'को-ऑपरेटिव शाप' (Co-operative Shop) खोलकर चलाना सिखाना चाहिये। इस तरह की दूकान में विद्यार्थी लोग एक-एक दो-दो रुपये के हिस्से खरीदते हैं और जिस प्रकार बड़ी-बड़ी कंपनियों में हिस्सेदार लोग डाइरेक्टर, मैनेजर, आडिटर आदि नियुक्त करते हैं, वही प्रकार इसमें भी बालक हिस्सेदार, निरी-

क्षक, कार्यकर्त्ता, मन्त्री, आडिटर आदि नियुक्त करके उस छोटी-सी संस्था को सफलता-पूर्वक चलाना सीखें। इससे यह होगा कि बड़े होने पर वे बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ सहयोग-पूर्वक चला सकेंगे।

अभी तक हिन्दुस्तानी स्कूलों में फौजी शिक्षा आरम्भ करने का अवकाश नहीं मिला। सैनिक शिक्षा से डिसिप्लिन उत्तम हो जाता है। अंग्रेजी शिक्षा ने बालकों को मानसिक स्वतन्त्रता दिला दी है; परन्तु बिना डिसिप्लिन के स्वतन्त्रता लाभकारी नहीं होती; उनमें मानसिक तथा नैतिक अराजकता आ जाती है। यदि हम लोग सैनिक शिक्षा नहीं दे सकते, तो भी ड्रिल, कवायद और स्काउटिंग शिक्षा के द्वारा डिसिप्लिन की बुद्धि जाग्रत कर सकते हैं। ड्रिल इत्यादि से तभी लाभ होगा, जब उसका फल बालकों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखने में आवे।



सहयोगकारी खेलों द्वारा आत्म-शासन की शिक्षा

बालकों को जो खेल या व्यायाम सिखाये जाते हैं, वे दो प्रकार के हैं। एक तो वे, जिनमें अकेला एक बालक, अथवा दो-एक को साथ लेकर, व्यायाम करता है—जैसे दण्ड, बैठक, कुश्ती, बार की कसरत आदि। दूसरे वे, जिनमें अन्य बालकों के सहयोग की आवश्यकता होती है; जैसे—ड्रिल, फुटबाल, हाकी, क्रिकेट आदि। पहले प्रकार के व्यायाम अथवा खेल से लाभ अवश्य होता है और कुश्ती से शरीर भी अच्छा बनता है; परन्तु इनसे सामाजिक जीवन के अनुकूल बनना सीखने का अवकाश कम मिलता है। एक-दो आदमियों से मेल रखना सरल है; परन्तु अनेक व्यक्तियों से मिलकर काम करना कठिन है। जनता-प्रणाली में अन्य लोगों से मिल-जुलकर काम कर सकने की आदत की बहुत आवश्यकता रहती है। इस कारण, आजकल सहयोगकारी खेल अथवा व्यायाम अधिक महत्व के माने जाते हैं।

अब ज़रा बारीकी से बिचार करना चाहिये कि इस प्रकार के खेलों आदि से शारीरिक, नैतिक और सामाजिक लाभ किस प्रकार होते हैं।

ड्रिल में सौ-पचास विद्यार्थी एक साथ एक प्रकार का व्यायाम करना सीखते हैं। हुकम पाते ही सब विद्यार्थी तुरन्त उसका पालन करते हैं—एक साथ हाथ-पैर और शरीर हिलाते हैं, एक कदम से चलना सीखते हैं और किसी प्रकार की ढील-ढाल नहीं करते। सैनिक शिक्षा से जो लाभ

सिपाहियों को होते हैं, प्रायः वे सब क़वायद के द्वारा स्कूल के बालकों को भी प्राप्त होने लगते हैं; अर्थात्—आज्ञा का तुरन्त पालन; पालन के समय खामोशी से रहना; कसे शरीर से, नियमित ढंग से और एक क्रम से यहाँ से वहाँ जाना; और जो कुछ कार्य करना उसे नियमबद्ध होकर करना इत्यादि। यदि ड्रिल-मास्टर बालकों में से चुनकर उनको कप्तान बनावे, तो वे अपने साथी का भी हुक्म मानना सीखते हैं।

हम ड्रिल द्वारा सब विद्यार्थियों को इस प्रकार के व्यायाम का अभ्यास करा सकते हैं, जो पढ़ने-लिखनेवालों के लिये विशेष हितकर हैं। विद्यार्थियों का जीवन ऐसा है कि उनका सिर आगे को झुका रहता है, पीठ झुक जाती है, पेट दबा रहता है, पित्त (लिवर) और मूत्राशय (किडनी) अपना कार्य बराबर नहीं कर सकते। विद्यार्थी-जीवन से ही शरीर में जो कमजोरियाँ आ जाती हैं, उनको निकाल देना ही क़वायद सिखाने का मुख्य हेतु है। शर्त यह है कि ड्रिल का घंटा कोरा खिलवाड़ न समझा जाय, वरन् व्यायाम कस करके और फुर्ती के साथ कराया जाय।

यदि सारे स्कूल के विद्यार्थियों के समय-समय पर इकट्ठा कर उन सबकी एक साथ ही क़वायद कराई जाय, तो उनमें सहयोग-शक्ति और भी अधिक बढ़ेगी। ड्रिल का उपयोग केवल क़वायद के घण्टे में न किया जाय, वरन् एक कक्षा से दूसरी कक्षा में अथवा छुट्टी के बाद घर जाते या टहलने जाते समय भी इसका उपयोग कराना चाहिये। क्वचित् ही कोई बालक अभी ऐसे मिलते हैं, जो शाला के बाहर भी सीखी हुई क़वायद का उपयोग करते हों।

सहयोगकारी खेलों में बालकों को आत्म-शासन की उत्तम शिक्षा मिलती है। बाइस लड़के आपस में दो पार्टियों में बँट जाते हैं, खिलाड़ी लोग अपने-अपने नेता चुनते हैं और फिर उसकी आज्ञा का पालन

निःसंकोच भाव से करना सीखते हैं। प्रत्येक खिलाड़ी अपनी पार्टी की भलाई देखता है और इस कारण उसमें स्वार्थ की मात्रा धीरे-धीरे घट जाती है; क्योंकि वह जानता है कि एक व्यक्ति के उत्तम प्रकार से खेल खेलने से ही सफलता अथवा विजय नहीं मिलती; बल्कि इन खेलों में सफलता तभी मिलती है जब प्रत्येक खिलाड़ी अपनी पार्टी में तल्लीन हो जाय, परस्पर सहायता देय और हर बात में पार्टी की ही भलाई देखे।

जिस प्रकार जीवन में हर-एक मनुष्य को माँगी हुई जगह नहीं मिलती, उसी प्रकार खेल में या मैच में किसीको भी मनोवांछित स्थान नहीं मिलता। कप्तान जिसको जहाँ भेजे, वहाँ उसे जाना पड़ता है। यदि उस स्थान में मेहनत अधिक हो अथवा चोट लगने की सम्भावना हो, तो भी उसे वहीं जाना पड़ता है। वह अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होने पाता।

विपक्षी दलवाले उसी प्रकार अपना संगठन कर पहली पार्टी से टक्कर लेते हैं और उसे हराने का भरसक प्रयत्न करते हैं। तारीफ़ तभी होती है जब विपक्षी-दल को हराने का पूरा उद्योग करते हुए भी खिलाड़ी लोग उनसे अपने मन में मैल न लावें और विपक्षी-दल को दुश्मन न समझें, चोट लगने पर कोध न करें—अपना हुनर तो पूरा दिखायें; परन्तु गाली-गलौज का नाम न लें। इतने पर भी यदि हार गये, तो मन में दुःख न लावें; और यदि विपक्षियों ने अच्छा खेल दिखाया, तो प्रसन्न-मुख से उनकी सराहना भी करें। हारने पर निरुत्साह न हो जायें; परन्तु फिर से उद्योग करें और अपने खेल को सुधारने की चेष्टा करें। इस प्रकार जनता-प्रणाली के लिये मुठभेड़ों की तैयारी इन खेलों-द्वारा अनायास ही हो जाती है।

सहयोगकारी खेलों की खूबी यह है कि जिसके साथ आज यह टक्कर ले रहे हैं, उसीको साथ लेकर कल किसी ओर के विरुद्ध खेलेंगे।

इस कारण बालकगण मनोमालिन्य को शीघ्र हटाकर विपक्षी से मित्रता का भाव रखना सीख जाते हैं। खेलों-द्वारा इस प्रकार राजनीतिक जीवन के लिये तैयारी हो जाती है।

मैचों के समय दोनों पक्ष मिलकर 'रेफरी' (निर्णायक) नियुक्त करते हैं और फिर उसके फैसलों को तुरन्त स्वीकार करना सीखते हैं। निर्णायक लोग भी ऐसी व्यवस्था करते हैं कि किसी भी पक्ष को अनुचित लाभ न मिले। जब दोनों ओर बराबर सुभीता हो, तभी मैच का रिज़ल्ट (परिणाम) सन्तोषदायक माना जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था से बालकों को यह शिक्षा मिलती है कि जब तक विपक्षियों को अपना कर्त्तव्य दिखाने का पूरा अवकाश न दिया जाय, तब तक यदि जीत भी मिल गई, तो यश नहीं मिलता। विपक्षी के साथ भी न्याय होना चाहिये, यह नैतिक शिक्षा उनके मन में समा जाती है। दूसरा लाभ यह होता है कि खेल के समय चोट लग जाने पर बालक धैर्य के साथ दुःख सहना सीखते हैं, व्यर्थ की हाय-तोबा नहीं मचाते और अपने दुःख को हँसी में ही उड़ा देते हैं। दुनिया में मनुष्य को सुख-दुःख लगा ही रहता है। सुखी मनुष्य वही है, जो अपनी आपत्तियों को प्रसन्न-चित्त से झेले और उन्हें तुच्छ समझे। सहयोगकारी खेलों-द्वारा बालकों को यही शिक्षा मिलती है।

इन खेलों में प्रत्येक बालक को चौकन्ना तथा फुर्तीला बना रहना पड़ता है, ज़रा भी असावधानी हुई कि विपक्षी ने उसका फ़ायदा उठाया और गेंद निकालकर ले गया। इसलिये प्रत्येक बालक को एकाग्र-चित्त होकर अपना खेल खेलना पड़ता है। इस प्रकार खेल में जो शक्ति प्राप्त हो जाती है, उसका उपयोग पाठ्य विषयों के अध्ययन में भी किया जा सकता है। कुश्ती लड़नेवाले पहलवान भले ही हो जायँ;

परन्तु उनमें फुर्ती नहीं आती, न तुरन्त फैसला करने की शक्ति ही। इस कारण पहलवान लोग बहुधा मन्दबुद्धि देखे जाते हैं; परन्तु सहयोगकारी खेलों में यदि आधे सेकण्ड के लिये भी कोई खिलाड़ी अनिश्चित-मना या चंचल-चित्त रहे, तो उसकी पार्टी का नुकसान हो जाता है। गेंद पास आई कि खिलाड़ी को तुरन्त फैसला करके बिजली के समान हाथ-पैरों का संचालन आरम्भ करना पड़ता है। इसी कारण, जो खिलाड़ी है, वह संकट के समय तुरन्त उद्योग करना आरम्भ कर देता है। वह 'कि-कर्तव्य-विमूढ़' नहीं होता।

यही कारण है कि फ़ौज, पुलिस, मजिस्ट्रेटो आदि के लिये, जिनमें दृढ़ और शीघ्र निश्चय की शक्ति की बहुत आवश्यकता है, बहुधा खिलाड़ी ही चुने जाते हैं—पोथी-पण्डित ऐसे पेशों में बेकाम निकलते हैं।

खेल के समय उत्तम खिलाड़ी का ही मान होता है। इस कारण, बालकगण उनको चुनते समय जात-पाँत या मत-मतान्तर के भेद-भाव को भूल-से जाते हैं। इस प्रकार जातीयता के भाव उनमें प्रबल हो जाते हैं। जो हमारी 'टीम' या 'पार्टी' में उपयोगी है, वही हमारा प्रतिनिधि हो सकता है, न कि अमुक जाति का व्यक्ति या अमुकधर्म का अनुयायी। जो यथार्थ में योग्य है, उसको मान देना बालकगण सीखते हैं।

सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि खेलों में पड़ जाने से बालकगण व्यसनों से बचे रहते हैं। विरला ही खिलाड़ी घृणित व्यसन में पड़ता हो। कारण यह है कि घण्टे-भर हाकी या फुटबाल खेलने के उपरान्त, जब वह रात को बिस्तर पर लेटता है, तब थकावट के कारण उसे नींद आ जाती है और फिर सबेरे ही आँख खुलती है। उसको व्यसनों पर विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता। उपदेशों से जितना लाभ नहीं होता, उतना खेल और व्यायाम-द्वारा अनायास ही हो जाता

है। निठले बैठने में और मक्खाने की-सी गप्पें मारने में पाप-बुद्धि जाग्रत होती है। खेलों तथा व्यायामों-द्वारा यदि वह उत्पन्न भी हो गई, तो जल्द मर जाती है। मेरा अनुभव तो यह है कि सहयोगकारी खेलों में लिस बालक प्रसन्न-मुख, शुद्ध-चरित्र, खुले मन वाला, धीर और समाज-सेवी बन जाता है।

अभी तक जितने सहयोगात्मक खेल पाठशालाओं में सिखाये जाते हैं, वे बहुधा विदेशी खेल हैं। पहले हम बतला चुके हैं कि किसी संस्था से इस कारण घृणा नहीं करनी चाहिये कि वह विदेशी है। विदेशी खेलों से यदि लाभ होता हो, तो हमें उन्हें अंगीकार करने में आगा-पीछा न करना चाहिये। अंग्रेज़ी में एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'वाटरलू की लड़ाई अंग्रेज़ों ने ईटन शाला के खेल के मैदान में जीती थी।' इसका अर्थ यह है कि ईटन की शाला में खेलों द्वारा बालकों को ऐसी नैतिक और शारीरिक शिक्षा दी जाती थी कि उन्होंने बड़े होने पर जगत्-विजयी नेपोलियन-बोनापार्ट की सेना को 'वाटरलू' के मैदान में शिकस्त दी। यह बात अवलोकन से भी सिद्ध होती है। अंग्रेज़ उद्योगी और निडर बनकर दुनिया के प्रत्येक भाग में पहुँचते और अपना काम करते हैं और अनेक स्थानों में सत्ता भी जमाये हुए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन खेलों के द्वारा उनमें धैर्य, सहयोग, उद्योग और आत्मरक्षा आदि के गुण आ जाते हैं।

इंग्लैण्ड में बालक तो बालक ही हैं; परन्तु बड़े-बूढ़े भी सहयोगकारी खेलों में पागलों की तरह भिड़े रहते हैं और इस कारण लोगों में बुढ़ापे तक पराक्रम बना रहता है और आवश्यकता पड़ने पर वे तुरन्त सैनिक भी बन जाते हैं। यदि मुझसे पूछा जाय कि अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान के साथ कौन-सा सलूक किया है, तो मैं यह कहूँगा कि सहयोगकारी खेल खेलना सिखाया है।

चालीस-पचास वर्ष पहले जिस प्रकार के नवयुवक बंगाल-प्रान्त में देखने में आते थे, उन्हें देख विदेशियों को तो घृणा होती ही थी, हम लोगों को भी शर्म के मारे सिर नीचा कर लेना पड़ता था। न उनमें खेलने की शक्ति, न हाथ-पैर में बल, न फुर्ती, न पुरुषार्थ—वे नाम-मात्र को मनुष्य दीखते थे और अपनी दुर्बलता को स्वाभाविक समझते थे, ज़रा-सी धमकी में भयभीत हो जाते थे। पर आज उसी देश में, इन खेलों के कारण, नवयुवकों में विस्मय-कारक परिवर्तन देखने में आता है। वहाँ के खिलाड़ी नवयुवकों में बल है, फुर्ती है, उत्साह है और जोखिम में पड़ने का हौसला भी है—एक नई दुनिया ही दीख रही है, और इस परिवर्तन को देखकर प्रत्येक देशवासी को यह सन्तोष होता है कि अब देश का काया-पलट हो रहा है।

इसी प्रकार का परिवर्तन हिन्दुस्तान के अन्य भागों में भी देखने में आ रहा है। खिलाड़ी नवयुवक गर्मी, सर्दी, वर्षा, धूप आदि की अधिक परवाह नहीं करते। वे फुर्ती भी काफी दिखलाते हैं; किन्तु खेद इतना ही है कि शालाओं में फ़ो सदी बहुत थोड़े बालक इन खेलों से प्रभावान्वित हो रहे हैं, शेष सब अभी पुराने ढर्रे में चले जाते हैं।

ऐसे देशी खेल अनेक हैं, जो उद्योग करने से सहयोगकारी खेल हो सकते हैं। खो-खो, आठ्या-पाठ्या अब नियमबद्ध हो चले हैं और इनमें सहयोग की मात्रा बहुत बढ़ गई है। इन खेलों में बालकों को नियमित दूरी पर खड़े करते या बिठलाते हैं और एक-एक सेकंड का विचार करके हार-जीत का निर्णय करते हैं।

अनेक खेल स्काउट लोगों में प्रचलित किये गये हैं, जिनसे केवल फुर्ती ही नहीं आती, वरन् बुद्धि भी तीक्ष्ण होती है।

अन्य देशी खेलों को भी समय और नियमों का बन्धन देकर तथा

परस्पर-सहयोग की मात्रा बढ़ाकर उनका पुनरुद्धार एवं पुनरुत्थान करना चाहिये।

विद्यार्थी-जीवन में एक दोष यह है कि उसमें निकट की वस्तुएँ देखने का मौका विशेष पड़ता है, और दूर की वस्तुओं पर एक दृष्टि डालने का अवकाश कम मिलता है। प्रकृति का नियम है कि जिस शक्ति का बराबर उपयोग नहीं होता, उसका धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। इसी कारण स्कूल के बालकों में दूर की वस्तुएँ देखने अथवा पहचानने की शक्ति क्रमशः कम हो जाती है। शिकारी लोग दूर की वस्तुओं पर निशाना लगाकर इस क्षति को रोक सकते हैं। पुराने समय में शहरों के निवासी पतंग या कबूतर उड़ाकर मन्द-ज्योति होने नहीं पाते थे। इन दोनों खेलों में दृष्टि को दूर जमाना पड़ता है। तारों के अवलोकन से भी यही लाभ होता था; परन्तु अब पतंग या कबूतर उड़ाना गुण्डों का रोज़गार समझा जाता है, और तारों के अवलोकन का शौक तो रहा ही नहीं। इस कारण, मन्द-ज्योति के नेत्रवाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ रही है। बहुत अच्छा हो, यदि इन तीनों कामों का शौक बालकों में फिर से उत्पन्न किया जावे। पतंग या कबूतर उड़ाने में कोई दोष नहीं, और जब भले आदमी इन कामों को करने लगेंगे, तब गुंडों के रोज़गार न रह जायँगे।

पहले हम यह कह आये हैं कि आत्म-रक्षा कर सकना प्रत्येक शिक्षित मनुष्य का ध्येय होना चाहिये। जो अपनी रक्षा स्वतः नहीं कर सकता, वह किराये के टट्टुओं के भरोसे कदापि आत्म-रक्षा नहीं कर सकता। इसलिये स्कूलों तथा कालेजों में आत्मरक्षा के साधन, जैसे—मुक्केबाज़ी, लाठी चलाना, तलवार फेरना आदि—सिखाया जाना चाहिये। इसके सिवा जुजुत्सू का भी प्रचार शुरू करना चाहिये; क्योंकि इसके द्वारा निर्बल—परन्तु तीक्ष्ण बुद्धि वाला—शिक्षित मनुष्य अपढ़ बलवानों से अपनी

रक्षा कर सकता है और काम पढ़ने पर उन्हें नीचे गिरा भी सकता है ।

यद्यपि शिक्षा-विभाग की ओर से निरन्तर अंकुश लगते रहने के कारण अनेक पाठशालाओं में सहयोगी खेलों का प्रचार बढ़ रहा है, तो भी उनके जारी करने का उद्देश्य बहुधा यह है कि सरकारी अफसर प्रसन्न रहें और उनके आगमन के समय कुछ खेल-तमाशे दिखला दिये जायँ । इस कारण कहीं-कहीं यह भी देखने में आया कि कुछ विद्यार्थी नाम-मात्र को स्कूल के रजिस्टर में दर्ज रहते हैं । पढ़ने-लिखने से उनको कोई काम नहीं । केवल मैच के समय खेलने के लिये रक्खे जाते हैं । साल के अखीर में उनको तरकी भी इसलिये दे देते हैं कि वे कहीं स्कूल छोड़कर दूसरे स्कूलों में न चले जायँ । इस प्रकार की घटनाएँ देखने से निराशा होती है । कारण, जिस उद्देश्य से ये खेल आरम्भ किये गये हैं, वे फलीभूत नहीं होने पाते ।

शालाओं को उचित है कि प्रत्येक विद्यार्थी को शारीरिक व्यायाम करने का अवसर दें और उन्हीं की सहायता से अपनी टीम भी तैयार करें । जिस विद्यार्थी की रुचि पढ़ने-लिखने में नहीं है और जो बराबर हाज़िर नहीं रहता, उसको टीम में रखना तो दूसरों के साथ दगा करना है । धोखा देकर विजय पाना नीचता है । अच्छी पाठशालाओं में इस प्रकार की हरकतें नहीं होने पाती, वे खेलों के आदर्शों का पालन करने में तत्पर रहती हैं ; परन्तु तो भी कुछ ऐसी संस्थाएँ देखने में आती हैं, जहाँ उक्त ढकोसले चल रहे हैं । वहाँ के लोग यह नहीं समझते कि विपक्षी को धोखा देकर विजय प्राप्त करने में कोई तारीफ़ नहीं । एक-न-एक दिन भंडा अवश्य फूटेगा, और बालकों के चरित्र भी तब तक बिगड़ते रहेंगे । ऐसे हथकंडे दिखलानेवाले शिक्षकों के ऊपर विद्यार्थियों की पूज्य-बुद्धि भी नहीं रहती ।

स्काउट-शिक्षा और उसके उद्देश्य

स्काउट-शिक्षा के द्वारा भी विद्यार्थिगण आत्म-शासन की परि-पाटी सीखते हैं। उसके प्राप्त होने से उनमें प्रायः वे सब गुण आ जाते हैं, जो सहयोगी खेलों द्वारा प्राप्त होते हैं—विशेषकर मिल-जुलकर काम करना। वे निःस्वार्थ भाव से दूसरों की सहायता करना, स्वावलम्बन, देश-प्रेम, सेवा-धर्म आदि ऊच्च आदर्शों को प्राप्त कर लेते हैं। स्काउट-संस्था ऐसे-ऐसे खेल सिखाती है, जिनसे शारीरिक क्षमता तो आवे ही, साथ ही बुद्धि भी तीव्र होती जाय। वह ऐसी-ऐसी पद्धतियाँ बताती है कि जनता की सेवा सुगमतापूर्वक हो सके। जैसे—आग बुझाने की रीति, पानी में डूबते हुए को निकालने की तरकीबें, ग्रामी आदमी की प्रारम्भिक चिकित्सा आदि।

इस संस्था का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के मन में अच्छी प्रेरणाओं के होने ही मात्र से काम नहीं चलता ; किन्तु उसे उचित रीति से कार्य कर दिखाने के साधनों को भी सीखना चाहिये। नवयुवकों में सेवा का भाव प्रबल हो रहा है, यह सौभाग्य की बात है। पर साथ ही उन्हें यह भी सीखना चाहिये कि सेवा उत्तम प्रकार से कैसे की जाती है और उसे उच्चतम तथा लाभकारी कैसे बना सकते हैं।

इस कारण स्काउट-संस्था स्काउट लोगों को अनेक प्रकार की तद्विरीं सिखाती है। उदाहरण के लिये, यदि कोई छोड़ा भड़ककर भागा जाता हो

और बाज़ार की तरफ दौड़ा जा रहा हो, तो प्रत्येक मनुष्य उसे पकड़ नहीं सकता और यदि बिना समझे पकड़ने का उद्योग भी करे, तो कदाचित् दुल-त्तियाँ खाय । भागते हुए घोड़े के पकड़ने की कुछ विशेष रीतियाँ हैं, उन्हीं का अनुकरण करने से सफलता मिलती है । जो उन्हें जानता है, वह बिना विशेष प्रयास और जोखिम के ही बिगड़े घोड़े को रोक सकेगा । स्काउट-संस्था यह भी सिखाती है कि बालकगण खाली न बैठें रहें, कुछ-न-कुछ उद्योग करते रहें ; क्योंकि उद्योग करनेवाला मनुष्य दुर्व्यसनों से बचा रहता है ।

संस्था तो उत्तम है और उसका प्रभाव बालकों के आचरण पर विशेष हितकर भी होता है ; किन्तु खेद यही है कि उसमें देश-हित की ओर लक्ष्य न देकर केवल दिखाने के लिये ही बहुधा कार्य होते हैं । अनेक स्काउट-मास्टर भी इस कार्य के योग्य नहीं दिखाते और वे लाभ के बदले हानि ही अधिक पहुँचाते हैं ।

सन् १८९९—१९०० वाले 'बोर'-युद्ध के समय दक्षिण-अफ्रिका में मेफकिंग नामक कस्बे में कुछ अंगरेज़ी सेना और अंगरेज़ नागरिक—मर्द, औरत और बच्चे—घिर गये थे और उनकी रक्षा का भार 'कनल बेडन पावेल' के सिर आ पड़ा । उन्होंने प्रत्येक पुरुष से कुछ-न-कुछ स्थान-रक्षा का कार्य कराया । फिर उनके मन में यह भी प्रश्न उठा कि छोटे-बड़े बच्चों से किस प्रकार की सहायता ली जाय । अन्त में उन्होंने बालकों को स्काउट बनाकर ऐसे काम लेना शुरू किया, जो पहले तो सैनिकों को करने पड़ते थे ; पर जिन्हें बालकगण भी सुगमता से कर सकते थे । जैसे सुरक्षित स्थान से शत्रु-सेना का अवलोकन, धरती में कान लगाकर शत्रु के आगमन की खबर बताना, झण्डे अथवा लैम्प के द्वारा सिगनल देकर एक स्थान से दूसरे स्थान को सन्देशा भेजना इत्यादि । यह परीक्षा बड़ी सफल हुई । इसके कारण अनेक सैनिक, जो इन कामों में फँस जाते थे,

युद्ध में पूरा भाग ले सके। बिचारे स्काउट जितना खाते थे, उससे कहीं अधिक काम कर दिखाते थे। बालकों में अवलोकन-शक्ति और चपलता अधिक होने के कारण वे ऐसी अनेक बातों का पता लगा लेते थे, जिनका पता पुराने सैनिक भी कठिनाई से पा सकते थे।

युद्ध के उपरान्त बेडन पावेल् ने स्काउट-संस्था को कुछ दूसरे ही रूप में संगठित किया। सेना को सहायता देना अब उसका उद्देश्य न रहा, परन्तु बालकों में स्वावलम्बन, अवलोकन-शक्ति, लोक-सेवा, सहकारिता आदि अनेक गुणों का विकास कराने के उद्योग होने लगे।

इस संस्था में छोटे-से-छोटे बालकों से लेकर नवयुवकों तक का समावेश किया गया और प्रत्येक की योग्यता के अनुसार स्काउट-शिक्षा दी जाने लगी। स्काउट लोगों से इस बात की शपथ ली जाती है कि ईश्वर, राजा और देश में भक्ति रखेंगे; कम-से-कम एक अच्छा कार्य प्रति दिन अवश्य करेंगे और दूसरों को सहायता देने में सदैव तत्पर रहेंगे। स्काउट लोगों के दस नियम भी बनाये गये। जहाँ तक बन पड़े उनका पालन करने का उद्योग भी कराया जाता है। जैसे—स्काउट हमेशा सत्य बोलेगा, उसकी बात पर सब भरोसा करेंगे, वह स्वावलम्बी होगा और प्रत्येक स्काउट को अपना भाई समझेगा इत्यादि।

इस संस्था से बालकों को इतना लाभ होने लगा कि इसका प्रचार सारी दुनिया में हो गया है और अब शायद हो कोई देश ऐसा मिलेगा, जहाँ इस संस्था को वहाँ की सरकार और प्रजा से हर तरह की उत्तेजना न मिलती हो। पार साल (१९३०) इंग्लैण्ड में जो स्काउट-जम्बोरी (स्काउट-सम्मेलन) हुई थी, उसमें सैकड़ों देशों के स्काउट-प्रतिनिधि पहुँचे थे। वहाँ देश, धर्म, वर्ण आदि का भेद-भाव न रखकर दुनिया-भर के स्काउट मित्र बनकर मिले तथा रहे थे।

इस संस्था का इतना प्रचार हो गया है कि एक छोटा-सा स्काउट दुनिया-भर में अकेला भ्रमण कर सकता है और जहाँ-कहीं कोई स्काउट होगा, वह उसे अवश्य सहायता देगा।

संयुक्त प्रान्त में सेवा-समिति-स्काउट-संस्था उत्तम प्रकार से कार्य करके काफी यश कमा रही है।

स्काउट-संस्था के मुख्य सिद्धान्त ये हैं—

(१) स्काउटों को पारस्परिक सहानुभूति, सहायता, सहयोग और प्रसन्नता के साथ अपना जीवन बिताने का ढंग सीखना चाहिये।

(२) प्रत्येक स्काउट को स्वावलम्बी होना सीखना चाहिये।

(३) ज्ञानेन्द्रियों का पूरा उपयोग करना हर-एक स्काउट को उचित है—अर्थात् उसे हमेशा सजग रहना चाहिये।

(४) दूसरों की सहायता तभी हो सकती है, जब सहायता करने की उत्तम हिकमतें मालूम हों। इसलिये इन सबको सीखकर स्काउटगण सेवा के लिये हमेशा तैयार रहें।

(५) नैतिक उपदेशों से उतना लाभ नहीं, जितना नैतिक अभ्यास से ; इसलिये स्काउट-संस्था उपदेश तो बहुत कम देती है ; परन्तु बालकों की स्वाभाविक प्रेरणाओं का उपयोग करके उत्तम-से-उत्तम कर्म कराने का उद्योग अधिक करती है।

(६) स्काउट को सेवा के बदले में धन्यवाद या इनाम की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये, जैसा श्रीकृष्णचन्द्रजी ने गीता में कहा है—स्काउट भी कर्म करने का अधिकारी है, फल पाने का नहीं।

इस संस्था में आठ-दस समानावस्था के बालकों की टोली बनाई जाती है। उन्हीं बालकों में से एक नेता बनाया जाता है। वही नायक, स्काउट-मास्टर की निगरानी में, अपनी टोली के प्रत्येक बालक को स्काउट-शिक्षा

देता है। टोली का प्रत्येक स्काउट, प्रसन्न मुख से, नायक की आज्ञा का पालन करता है। यद्यपि आपस में हँसी-दिल्लगी आदि की बहुत-कुछ स्वतन्त्रता रहती है; तथापि काम के समय नायक का हुक्म पाते ही वे इस फुर्ती से उसका पालन करते हैं, मानों वह सेनानायक हो। प्रत्येक दल का अलग-अलग नाम दिया जाता है। जैसे—रामदल, भीमदल, लक्ष्मणदल, अर्जुनदल, हनुमानदल इत्यादि। उनको अनेक वीरोचित अथवा उल्लासदायक गाने सिखाये जाते हैं। वे नाटक खेलना, नक़ल करना, गाना-बजाना आदि भी सीखते हैं, जिससे खाली बैठे रहने पर वे अपना समय आनन्द से काट सकें।

उन्हें अपने बिछोने बाँधना, अपने कपड़े साफ़ करना, अपने डेरे लगाना, अपने जूते साफ़ करना आदि सब कार्य इसलिये सिखाये जाते हैं, कि वे दूसरों के भरोसे न रहें, अपना काम खुद कर लें। इसी कारण उन्हें अपना भोजन बनाना भी सिखाया जाता है। कैम्प में लकड़ी—कंडे बटोरकर बिना दियासलाई के आग जलाना सिखाया जाता है। बिना छन्नी के चाय छानने की विधि भी सिखाई जाती है। सार यह कि आपत्ति के समय वे हाथ-पर-हाथ रखकर न बैठें, खुश से अपना काम चला लें।

सैनिकों के समान इनकी भी वर्दी होती है। प्रत्येक के पास एक लट्ट, रस्सी और म्यामान रखने की झोली होती है। इतनी ही चीज़ों के सहारे ये अनेक प्रकार की व्यवस्था करना सीखते हैं। जैसे—रात में सोने के लिये डेरे बना लेना, सीढ़ी या पुल तैयार करना, कुएँ में डूबते हुए मनुष्य को निकालने के लिये फन्दा या झूला तैयार करना, बीमार या घायल मनुष्य को ले जाने के लिये स्ट्रेचर (खटोली) बना लेना, दूरी नापना इत्यादि। थोड़ी शिक्षा मिलने से स्काउट लोग अपने लट्ट और रस्सी के द्वारा अनेक काम निकाल लेते हैं।

स्काउट लोगों को जो 'बुड-काफ्ट' (जंगल की हुनर) की शिक्षा दी जाती है, उससे उनकी अवलोकन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिये, किसी जगह जली हुई लकड़ी या कंड़े पाये गये, तो स्काउट-टोलियों से कहा जायगा कि प्रत्येक टोली अवलोकन-शक्ति द्वारा यह पता लगावे कि किस प्रकार के मनुष्य यहाँ आये थे, उन्होंने अग्नि क्यों जलाई थी, किस प्रकार का भोजन बनाया था, कितनी देर यहाँ रहे थे और अब कहाँ चले गये।

इस तरह बालकों की अवलोकन-शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि जरा-जरा-सी बातों को देख करके बहुत-सी बातों का पता लगा लेते हैं।

दियासलाई की जली हुई सीकों और आधी जली बीड़ियों तथा धूल में पड़े पदचिन्हों को देखकर वे बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार पेड़ के छिलकों अथवा धरती में पड़े हुए पत्तों का अवलोकन करके या धरती पर जानवरों के पद-चिन्हों का निरीक्षण करके वे पता लगा लेते हैं कि गाँव का कौन-सा जानवर किस तरफ निकल गया। धरती पर कान लगाकर पता लगा लेते हैं कि दूरस्थित गाँवों में क्या हो रहा है। पशु-पक्षियों और काँड़े-मकोड़ों के जीवन के बारे में बहुत-कुछ ज्ञान उनको अनायास ही हो जाता है।

स्काउट लोगों को तैरने की कला तथा डूबते हुए को बचाने की हिकमतेँ भी सिखाई जाती हैं। उस्ताद में आकर डूबते हुए को बचाने जाना संकटपूर्ण-कार्य है; परन्तु जो तैरना जानता है और साथ ही डूबते हुए को पकड़ने की हिकमतेँ भी जानता है, वह तो सकलता-पूर्वक सहायता दे सकता है। जो हिकमत नहीं जानता, उसे डूबनेवाला पकड़ लेगा और घबराहट के मारे उसे भी अरने साथ ले डूबेगा। आग बुझाने के लिये भी अति कुशलता की आवश्यकता है। बहुधा देखने में आया है कि आग लगने पर हजारों मनुष्य दौड़ आते हैं; परन्तु यथोचित

रीति से सहायता कर सकनेवाले बहुत कम होते हैं। अधिकांश लोग इला-हशरात और बातचीत किया करते हैं। एक हुक्म देता है, तो दूसरा उसे रह कर देता है और इसी क्रमेण में कुछ नहीं होने पाता।

एक समय भोपड़ियों में आग लगने पर मैंने स्काउट लोगों को उसे बुझाते हुए देखा। उनकी हिक्मतों की जितनी तारीफ़ की जाय, थोड़ी है। नल से भोपड़ी तक लगातार स्काउट लोगों की एक लाइन बन गई। नल से एक बालक बाल्टी में पानी भर कर दूसरे को देता, दूसरा बालक तीसरे को देता और इसी प्रकार हाथों-हाथ भोपड़ी तक बाल्टी पहुँच जाती थी। जो बाल्टियाँ खाली हो जाती थीं। वे उसी प्रकार हाथों-हाथ लौटाई जाती थीं। इस तरह बड़ी शीघ्रता से आग बुझा दी गई। स्काउट मास्टर ने इस प्रकार व्यवस्था की कि कुछ स्काउट आग बुझाने पर तैनात किये गये; कुछ आसपास की भोपड़ियों के छपर गीले करने अथवा गिराने में लगाये गये, जिससे आग फैलने न पावे; कुछ आसपास के घरों से सामान बाहर निकालने के लिये नियुक्त किये गये; कुछ यह देख-रेख करते थे कि सामान चोरी न जावे और शेष हाथों-हाथ बाल्टी भरकर पहुँचाने और वापस भेजने के काम में लगे थे। न गुल-गपाड़ा हुआ, न बकबक होने पाई और न किसीको व्यर्थ दौड़-धूप करनी पड़ी। सब काम शान्तिपूर्वक और धैर्य के साथ आनन-फ़ानन हो गया और आग भी शीघ्र बुझ गई।

व्यर्थ दौड़-धूप न करनी पड़े, दूर तक सन्देशा सुगमता से जा सके और गुल-गपाड़ा भी न हो, इसलिये स्काउट लोगों को सीमाफोन-सिगनल (Semaphone-Signal) करना सिखाया जाता है। जिस प्रकार तारघर में खटखटाकर दूसरे स्थानों को सन्देशा भेजा जाता है, वही प्रकार दिन के समय झंडों की सहायता से सन्देशा भेजा जाता है।

और, रात्रि के समय लैम्प के द्वारा फ़ौज में इसी प्रकार सन्देश भेजे जाते हैं। यदि एक स्काउट को दूसरे स्काउट से—जो दो या तीन सौ गज़ की दूरी पर खड़ा है—कुछ सन्देशा कहना है, तो वह व्यर्थ गला न फाड़ेगा, न दौड़ा जायेगा; वरन सिगनल-द्वारा अपना सन्देशा कह देगा और उसी तरह उत्तर भी पा लेगा।

भारी परंठ के समय जब हजार-दो-हजार स्काउट इकट्ठे हों, तब सबको सन्देशा भेजने के लिये एक युक्ति का उपयोग किया जाता है, जिसे अंगरेज़ी में पासिंग वर्ड (Passing word) कहते हैं। एक ने दूसरे से सन्देशा कहा कि उसने बाजूवाले के कान में धीरे से कह दिया। फिर उस तीसरे ने चौथे के कान में कहा। इसी प्रकार बात-की-बात में दूर तक सन्देशा पहुँच जाता है। ऐसी अनेक हिकमतेँ स्काउट लोगों को सिखाई जाती हैं। अतः वे व्यवहार-कुशल बन जाते हैं।

स्काउट लोग अपनी रस्पी, डण्डे और कम्बलों की सहायता से ढेर तैयार करना सीखते हैं, जिससे काम पढ़ने पर उन्हें रात के समय आश्रय मिल सकता है। तरकीबें बिल्कुल सरल हैं, केवल उनका उपयोग करने की आवश्यकता है। स्काउट लोगों को अपना जीवन सुखमय बिताने के लिये अनेक तरह की शिक्षाएँ दी जाती हैं। जब उनका कैम्पफ़ायर होता है—अर्थात् जब जाड़े की रात में आग जलाकर वे लोग बैठते हैं—तब वे अनेक प्रकार के छोटे-मोटे नाटक करते हैं, नक़लें सुनाते हैं, गाना-बजाना करते हैं, कहानियाँ कहते हैं, एक दूसरे को मूर्ख बनाते और खिल्ली उड़ाते हैं; परन्तु फिर भी कोई बुरा नहीं मानता। कारण इसका यह है कि स्काउट-जीवन में तुलु-मिजाज़ी नहीं चल सकती, उन्हें यह उपदेश दिया जाता है कि विपक्षी के कटाक्षों को मन में मत लाओ, दिल्लगी में उड़ा दो। उनको सैकड़ों ऐसे खेल बतलाये जाते हैं, जो खेल-के-खेल भी

हों और जिनसे बुद्धि भी तेज़ हो। दो-एक खेलों के उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

एक खेल है हेयर और हाउण्डस् (Hair and hounds)। इसमें एक टोली के स्काउट खरगोश बनकर आगे निकल जाते हैं और दस-पन्द्रह मिनट पीछे दूसरी टोली के स्काउट शिकारी कुत्ते बनकर उनका पीछा करते हैं। खरगोश-स्काउट रास्ते में, बीच-बीच में, कुछ-न-कुछ निशान छिपाकर रखते जाते हैं। शिकारी-स्काउट उनका पता लगाते हुए खरगोशों का रास्ता ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं और फिर पीछा करते जाते हैं। खरगोश-स्काउट अनेक प्रकार के भाँसे देकर कठिन-से-कठिन और विचित्र-से-विचित्र मार्ग से जाकर घण्टे-डेढ़-घण्टे में या नियमित समय के भीतर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं। इस खेल में खूबो यह है कि थोड़ी-थोड़ी दूर पर कुछ-न-कुछ संकेत छोड़ते जाते हैं। इसमें वे न चूकेंगे और अन्य प्रकार से भी अपना मार्ग छिपाने की कोई भी हिकमत न बचा रखेंगे। पीछा करनेवाले एक दूसरे को सहयोग देते और पद-चिन्हों को देखते अथवा संकेतों को ढूँढ़ते हुए अपना मार्ग निकालेंगे; परन्तु प्रणबद्ध होने के कारण राहगीरों से कुछ न पूछेंगे। नियम-विरुद्ध कोई लाभ किसी पक्षवाले न उठावेंगे। इस खेल से स्काउटों में सहयोग-शक्ति, अवलोकन-शक्ति तथा दोड़-धूप करने की शक्ति बढ़ती है।

किसी थाली में पन्द्रह-बीस तरह की वस्तुएँ रखकर और उन्हें रूमाल से ढाँककर स्काउट-टोलियों के सामने लाई जाती हैं। फिर उन्हें पाँच मिनट तक थाली की हर-एक वस्तु ध्यान-पूर्वक देख लेने का मौका दिया जाता है। इसके बाद थाली फिर ढँक दी जाती हैं। अन्त में स्काउट से कहा जाता है कि जो-जो चीज़ें देखी हैं, उनके नाम अपनी डायरी में फ़ौरन लिखो। इतना होने पर सही उत्तरों पर नम्बर दिये

जाते हैं। इस प्रकार टोलियों में एक एक से बढ़कर उत्तर देने का हौसला बढ़ाया जाता है। सफलता उस टोली को मिलती है, जिसका प्रत्येक स्काउट ध्यान-पूर्वक अवलोकन करे और सब चीजों के नाम ठीक-ठीक याद रखे।

स्काउट लोगों को पहले यह बतला दिया जाता है कि आँख पर पट्टी बाँधकर फर्ला स्थान से फर्ला स्थान तक जाना होगा। उचित समय के उपरान्त उनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की आज्ञा दी जाती है। इसमें भी जो स्काउट बारीकी से अवलोकन करके स्थिर दिशा में जायगा, वही सफल होगा।

स्काउट लोगों को उत्साह तथा वीरता के कार्य करने का हर तरह से उत्तेजन दिया जाता है। अनेक स्काउट साइकिलों पर दूर देश में भ्रमण कर आते हैं, कोई तैरने में नाम पैदा करते हैं। इसी तरह कोई एक प्रकार का उत्साह-पूर्ण कार्य करता है, तो दूसरा दूसरे प्रकार का।

आज-कल स्काउट लोगों की सहायता से मेले, जलसे, टूर्नामेन्ट आदि का प्रबन्ध बड़ी खूबी के साथ किया जाता है। और, सर्वसम्मति से लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि जैसा अच्छा काम ये लोग कर दिखाते हैं, वैसा पुलीसवालों से नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि स्काउट-शिक्षा से बुद्धि तेज तथा सेवा-भाव प्रबल हो जाता है। जलसों के समय साइकिलों के रखने का एक सुरक्षित स्थान बनाते हैं और जो साइकिल रखने आया, उसको क्रमशः पीतल का एक बिल्ला दे देते हैं, और उसी नम्बर का दूसरा बिल्ला साइकिल पर लगा देते हैं। साइकिलों को नम्बरवार रखते हैं, सभा-विसर्जन के समय जब लोग जाने लगते हैं, तब उनके बिल्ले लेकर उन्हीं नम्बरों की साइकिलें वापिस कर देते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने से शायद ही कोई साइकिल चोरी

जाती हो। पुनः पर्व के समय स्काउट लोग यात्रियों को नम्रता के साथ स्नान करने में सहायता देते हैं। कमेज़ोर तथा बूढ़े यात्रियों को और स्त्रियों तथा बच्चों को रास्ता बतलाते, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते, बिलुड़े बच्चों को माँ-बाप तक पहुँचाते, घाटे पर तैराक स्काउट डूबतों की सहायता करने के लिये तत्पर रहते हैं।

योग्य नेताओं से इस प्रकार समाज-सेवा सीखकर स्काउटगण देश-सेवा के लिये तैयार होते हैं और खूबी यह रहती है कि इतना सब करके भी न तो वे इनाम चाहते, न धन्यवाद की आकांक्षा करते; उनको केवल सेवा में आनन्द है।

जनता-प्रणाली के जीवन में योग्य नागरिक तैयार करने के लिये स्काउट-संस्था उत्तम प्रयत्न कर रही है और समाज को चाहिये कि उसका प्रचार अधिक बढ़ावे तथा अच्छे-से-अच्छे नेता इस संस्था का निरीक्षण करें।



डिवेटींग सोसाइटी और नकली पार्लियामेंट

पिछले पन्नों में यह बतलाया गया है कि नवीन जीवन में सफलता उन्हीं लोगों को अधिक मिलेगी, जो सभाओं में स्रष्टा और श्रैय के साथ अपने विचार प्रकट कर सकेंगे। विद्वान् मनुष्य अपना प्रभाव तब तक न डाल सकेगा, जब तक उसमें बोलने की शक्ति न हो। बहुधा देखने में आया है कि बोलने की शक्ति अच्छी होने के कारण मुसलमान फकीर हिन्दू-घरों से भी अच्छा दान ले जाते हैं और हिन्दू-भिखारी मुँहजोर न होने के कारण अथवा अपनी दबी ज़वान के कारण कोरा जवाब पाते हैं ! लखनऊ के मुसलमान तांगेवाले ऐसी बात बनाकर कहते हैं कि यात्री को जहाँ आठ आना देना हो, वहाँ मुरव्वत में आकर और उसकी बोलचाल के प्रभाव में पड़कर सवाया या ड्योढ़ा तक दे देता है। हिन्दू तांगेवाले बोलना नहीं जानते ; इसलिये उन्हें थोड़े में ही सन्तोष करना पड़ता है। यही हाल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखने में आता है। जो मुँहजोर नहीं है अथवा दबी तबीयत का है, उसको खाने को भी कम मिलता है।

इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक शाला और कॉलेज में विद्यार्थियों को बोलने और लिखने की शक्ति प्राप्त करने का तथा सभा चलाने के नियम सीखने का पूरा-पूरा अवकाश दिया जाय। इसकी शिक्षा दो प्रकार से होती है। एक नकली पार्लियामेंट, असेम्बली या

कौंसिल बनाकर इन सभाओं के चलाने की रीति प्रदर्शित की जाय और दूसरी डिबेटिंग सोसाइटी अर्थात् शास्त्रार्थ-सभाओं द्वारा वादानुवाद की शिक्षा दी जाय।

इन सभाओं में बालकों ही द्वारा सब कार्य कराये जायें। विद्यार्थी ही सभापति, विद्यार्थी ही मन्त्री, विद्यार्थी ही सभासद, विद्यार्थी ही वादी-प्रतिवादी और विद्यार्थी ही संचालक रहें। शिक्षक लोगों का काम केवल पथ-प्रदर्शन तथा उत्साह-वर्द्धन का है। ऐसी सभाओं के द्वारा बालकों में आत्म-शासन की परिपाटी का प्रचार उत्तम प्रकार से हो सकता है। जिस तरह पार्लियामेण्ट या कौंसिल में किसी पक्ष का समर्थन करने के लिये प्रस्ताव, अनुमोदन और समर्थन होते हैं, उसी प्रकार विद्यार्थी-सभाओं में भी खण्डन-मण्डन नियम-पूर्वक कराना चाहिये। अन्तर केवल इतना ही रहे कि खंडन-मंडन के विषय ऐसे हों, जो विद्यार्थियों की शक्ति के बाहर न हों और उनपर चर्चा या विवाद करने की उनमें शक्ति भी हो।

विद्यार्थियों को नियमबद्ध होकर विवाद करना सीखना चाहिये।

नियमबद्ध विवाद का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) जितना समय सभापति किसी वक्ता के लिये नियत कर दे, उतने ही समय में बोलने का अभ्यास कराया जाय।

(२) व्यर्थ शिष्टाचार में समय न खराब किया जाय। बहुधा देखने में आया है कि वक्ता लोग अपनी अयोग्यता सिद्ध करने में दस-पाँच मिनट लगा देते हैं। यह व्यर्थ का शिष्टाचार है। यदि कोई सचमुच अयोग्य है, तो बोलने ही को क्यों खड़ा होता है? यदि नम्रता दिखाता हो, तो उत्तम उपाय यह है कि विपक्षी के कथन को ध्यान-पूर्वक सुने।

(३) वादानुवाद ठीक विषय पर ही हो, तूल खींचना अनुचित है। विपक्षी के कथन का वही अर्थ लिया जाय, जो उसके कहे हुए शब्दों से

निकलता हो। उदाहरण के लिये, यदि कोई वक्ता यह कहे कि 'अमुक मार्ग जाने से लाभ होगा या नहीं, इसमें मुझे कुछ सन्देह है', तो इसका अर्थ यह न लिया जाय कि अमुक मार्ग को उसने भयपूर्ण बतलाया है। वादानुवाद के समय वक्ता लोग विपक्षी के कथन को कुछ-का-कुछ बतलाकर उसका मत खंडन करने की चेष्टा करते हैं। यह सरामर अन्याय है। खंडन से तभी लाभ होगा, जब यथार्थ में जो कुछ कहा गया हो, उसी का खंडन किया जाय, न कि किसी कल्पित बात का।

(४) वक्ता तभी बोले, जब उसे यथार्थ कुछ कहना हो। और जो कुछ कहना हो, उसे स्पष्ट शब्दों में और पूर्ण रीति से कहे; परन्तु जो बात एक बार कह दी जा चुकी हो, उसको—जब तक आवश्यकता न हो—बार-बार दुहराने से कोई लाभ नहीं। इसमें समय व्यर्थ नष्ट होता है। यदि किसी मत के पक्ष में चार या पाँच सभासद बोलनेवाले हों, तो उनके नेता को उचित है कि जितने तर्क उसके पक्ष में दिये जा सकते हों, उनको सभा के सम्मुख रखने के लिये वक्ताओं में बाँट दें; जिससे प्रत्येक वक्ता को कुछ-न-कुछ नई बात कहने का अवसर मिले, और जो बात एक वक्ता के द्वारा कह दी गई है, उसकी पुनरावृत्ति दूसरों के द्वारा न हो। विपक्षी भी इसी प्रकार का नियोजन करें। तभी वादानुवाद में आनन्द आता है। पक्ष के नेता को यह भी उचित है कि विपक्षी की मुख्य-मुख्य बातें नोट करता जाय और अपने साथियों में से किसीको मन्त्र देकर उनके उत्तर देने के लिये खड़ा करे।

(५) मत का खंडन-मंडन किया जाय; परन्तु विपक्षी पर व्यक्तिगत आक्षेप न होने देना चाहिये। कारण, उससे द्वेष बढ़ता है। विवाद समाप्त होने और सभा-विसर्जन होने पर, दोनों पक्ष के लोग हकट्टे खड़े होकर, मित्र-भाव से, विवाद में जो विपक्ष के गुण देखे गये हों, उनकी सराहना करें।

(६) वक्ता कई प्रकार के होते हैं । कोई-कोई तो बड़ी क्लिष्ट भाषा का उपयोग करते हैं । कदाचित् वे समझते हैं कि भाषा ऐसी होनी चाहिये कि सभासद्गण समझ न सकें ; परन्तु यह उनकी सरासर भूल है । बोलने का मुख्य अभिप्राय यह होना चाहिये कि प्रत्येक सभासद, वक्ता के कथन को, सुगमता से समझ सके । तभी उसका प्रभाव सभा में अधिक होगा । शब्दाढम्बर से जनता का ध्यान व्याख्यान से उल्ट जाता है । केवल पाण्डित्य दिखाने से सुननेवालों के मन में कुछ-न-कुछ ग्लानि अवश्य होता है । अतः यदि अच्छे-अच्छे तर्क सभा के सम्मुख पेश किये जायें और भाषा सरल हो, तो प्रत्येक सभासद ध्यान-पूर्वक और दिलचस्पी के साथ सुनेगा ।

(७) कोई-कोई वक्ता बड़े जोशीले व्याख्यान देते हैं, उनमें उत्तेजना भरी रहने के कारण सुननेवालों के मन पर थोड़ा-बहुत तात्कालिक प्रभाव अवश्य पड़ जाता है ; परन्तु यदि उसमें सार नहीं है, तो उसका असर थोड़ी देर के बाद काफूर हो जाता है । इस कारण आजकल जोशीले व्याख्यानों का महत्व दिन-पर-दिन घटता जाता है । बेहतर तो यह है, कि विद्यार्थियों को स्पष्ट, सरल और शुद्ध भाषा में तथा यथोचित स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ शान्ति-पूर्वक बोलना सिखलाया जाय और उनके भाषण में तर्क की मात्रा विशेष, तथा जोश की मात्रा कम हो ।

इस प्रकार की शिक्षा देने से विद्यार्थिगण उत्तम प्रकार से और न्याय-पूर्वक बोलना सीखेंगे । उनकी भाषा धीरे-धीरे सुव्रतगी और उनमें बोलते समय जो स्वाभाविक भय उत्पन्न होता है, वह भी निकल जायगा । अच्छा बोलना सीखने के लिये यह आवश्यक है कि वक्ता अपने विचारों को पूर्णतया लिख ले, भाषा को परिमार्जित कर ले, विचारों को बारीकी से कौट-कौट ले ; यह भी देख ले कि इस वक्तृता का प्रभाव जनता पर

क्या हो सकता है ; भ्रम उत्पन्न करनेवाले शब्दों को न रखे। किन्तु बोलने के समय वह लेख अपने सामने न रखे, केवल विचार-शैली दिखलाने के लिये सूक्ष्म नोट रख ले ।

भाषण करना कुछ खिलवाड़ नहीं है । सफलता-पूर्वक भाषण करने के लिये अनेक मानसिक गुण चाहिये, तभी उसका असर श्रोतागण पर पड़ सकता है । पहला विचार यह होना चाहिये कि किस प्रकार के श्रोता आनेवाले हैं ; उनमें किस प्रकार के ज्ञान की पिपासा है ; उनकी कैसी चित्त-वृत्ति है ; कौन-से तर्क उनकी समझ में आ सकेंगे ; किस तर्क को सामने रखने से उनका मन खट्टा होने की सम्भावना है ।

जो मनुष्य पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं को उत्तम प्रकार से पढ़ सकता है ; जो पढ़ते समय सम्बन्धी शब्दों को एक साथ पढ़ता है ; आवाज़ को यथोचित रीति से चढ़ाता या उतारता है ; जहाँ अवधारण देना चाहिये वहाँ देता है ; जैसा विषय है, वैसे ही भाव से पढ़ता है ; वही मनुष्य समा-समाज में भी उत्तम भाषण कर सकता है ।

इस कारण स्कूलों में उत्तम प्रकार से पढ़ने का ढंग सिखलाना शिक्षा का एक आवश्यक अंग है ; क्योंकि इस गुण को प्राप्त किये बिना मनुष्य वाग्मी नहीं हो सकता ।

अन्त में एक बात और कहना आवश्यक है । प्रत्येक वक्ता का ध्येय यह होना चाहिये कि श्रोताओं के साथ-साथ विपक्षियों को भी अपने पक्ष में खींचना है । कटुवे भाषण से, अथवा विपक्षी को दुष्ट साबित करने से भी, यह कार्य सिद्ध नहीं होता । अच्छा बोलनेवाला वही है, जो विपक्षी को भी भला आदमी समझे और उसके उच्च मनोविकारों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करे ।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ नीच और उच्च भाव रहते ही हैं । उच्च भावों

की प्रेरणा करने से वही मनुष्य उच्च आदर्शों की ओर खिंच जाता है। एक संस्कृत-कवि ने कितना अच्छा कहा है कि 'सत्य बोलो, परन्तु मांठा बोलो ; सत्य को अप्रिय रूप देकर मत कहो ।'

कई वक्ताओं की आदत है कि अपनी लियाक़त दिखाने के लिये संस्कृत और फ़ारसी भाड़ते हैं। यदि सभा में संस्कृत या फ़ारसी जानने वाले मौजूद हों, तब तो इससे लाभ हो सकता है ; परन्तु यदि श्रोतागण इन भाषाओं से अनभिज्ञ हों, तो ऐसे दम्भ से क्या लाभ हो सकता है ?

पहले हम कह आये हैं कि अब समय ऐसा आ रहा है कि जनता को लाभ पहुँचाने के निमित्त मातृ-भाषा अथवा देशी भाषाओं में बोलना सीखना प्रत्येक शिक्षित मनुष्य का धर्म है। अँगरेजी में निपुणता प्राप्त करने से लाभ अवश्य है ; परन्तु अब देशी भाषा में योग्यता प्राप्त करने से कहीं अधिक लाभ होगा। इसलिये पाठशालाओं तथा कॉलेजों में देशी भाषाओं में व्याख्यान देने का अभ्यास अवश्य कराना चाहिये।



पाठशालाओं के नियोजन में कायापलट की आवश्यकता

आज-कल जिस प्रकार पाठशालाओं का नियोजन होता है, उस-पर विचार करके यह देखना चाहिये कि नवीन-जीवन के योग्य बालकों को तैयार करने के लिये क्या व्यवस्था की गई है और उनमें किस प्रकार परिवर्तन करने की आवश्यकता है ।

हर-एक प्रदेश में हाई-स्कूल या इंटरमिडियट बोर्ड अथवा अन्य कोई ऐसी संस्था रहती है, जो सारे प्रदेश की पाठशालाओं के लिये शिक्षा-पत्र तैयार करती है । वही यह भी निश्चय करती है कि किस कक्षा में कौन-सा विषय अनिवार्य (Compulsory) है और कौन-सा विषय ऐच्छिक (optional) है । यह भी वही निश्चित करती है कि प्रत्येक कक्षा में वर्ष-भर में क्या और कितना पढ़ाया जाय । पाठशाला के अधिकारिण उसी संस्था के निर्धारित शिक्षा-पत्र के अनुसार अपने 'मिलेबस' तैयार करते हैं । मिलेबस में यह बतलाया जाता है कि किस विषय में साल-भर में जो कुछ पढ़ाना हो, उसे प्रत्येक मास में कितना पढ़ाना और प्रत्येक सप्ताह में कितना तथा प्रत्येक दिन क्या पढ़ाना—इसका निर्णय शिक्षक करते हैं । विद्यार्थियों को प्रति-दिन यह बतला दिया जाना है कि इतने सवाल कर लाओ, फलों अध्याय देख लाओ, अमुक नक्शा तैयार करो और अमुक कापी लिख डालो ।

विद्यार्थी को अपना कार्यक्रम बनाने का कोई अवकाश नहीं मिलता ।

इतना ही नहीं, एक टाइम-टेबिल बन जाता है और घण्टा बजते ही किसी एक कक्षा के विद्यार्थी वैयाकरण बन जाते हैं, फिर दूसरा घण्टा बजा कि व्याकरण हटा हो गया और लड़के ड्राइंग की कापी लेकर चित्र बनाने लगे ; उस घण्टे में सारी कक्षा कला-भवन बन जाती है ! तीसरा घण्टा बजा कि विद्यार्थिगण सारी दुनिया के प्रायद्वीप, अन्तरीप, ज्वालामुखी, समुद्र और पहाड़ों के नाम रटने लगे ! इस तरह का क्रम पाठशालाओं में चलता है ।

यदि विद्यार्थियों से पूछा जाय कि यह सब क्यों कर रहे हो, सुम्हें इससे क्या लाभ हो रहा है, तो बहुतेरे यही उत्तर देंगे कि मास्टर साहिब ने जो कहा है, सो करते हैं । उनकी दशा उस गंगापारी फौजी सिपाही के समान है, जो कहीं किसी छबूटी पर तैनात कर दिया गया था और जब उसके किसी मित्र ने पूछा कि तुम यहाँ क्यों खड़े हो, तो उसने बैसवाड़ी बोली में जवाब दिया कि 'हम का जानी ? कण्डैल (कर्नल) साहिब जस हमका फर्माय दीहिन तस हम फुरम दीन्ह !' अथवा उनकी दशा उन कुलियों के समान है, जो रेल की सड़क बनाने में लगाये जाते हैं और जैसा उनको बतलाया जाता है, वैसा करते जाते हैं—उन्हें यह नहीं मालूम रहता कि किस कारण पटरी इधर रखाई जाती है और किस कारण उधर ; सोचने-विचारने का सब काम इंजीनियर करते हैं, कुलियों को इस प्रपंच से क्या काम ?

पश्चिमी देशों में कुछ विद्वान् इंजीनियरों ने इस बात का प्रयत्न करना शुरू किया है कि कुली लोगों को भी उनकी योग्यता के अनुसार इंजिनियरों के उद्देश्य समझा दिये जायँ और उन्हें भी अपनी बुद्धि लड़ाने का थोड़ा-बहुत अवकाश दिया जाय । उन लोगों को यह अनु-

भव हुआ है कि इंजिनियरों के उद्देश्य जब मज़दूर लोग समझ लेते हैं, तब वे और भी अच्छा कार्य करने लगते हैं। वे इतने उत्साह के साथ काम करने लगते हैं कि उनके काम पर तीव्र दृष्टि डालने की उतनी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसका कारण यह है कि उन लोगों को अपने काम से प्रेम उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी वे लोग इंजिनियर को अपने ऐसे अनुभव बतला देते हैं कि जिनसे इंजिनियर को भी कुछ लाभ हो जाता है।

अब, प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार समझदार इंजिनियर लोग कुलियों से काम लेने लगे हैं, उसी प्रकार क्या हमलोग पाठशालाओं में विद्यार्थियों से भी नहीं ले सकते? यदि बालकों को यह समझा दिया जाय कि उन्हें साल-भर में इतना काम करना है और अमुक प्रकार से काम करने में अधिक लाभ होगा, तो वे भी अपनी बुद्धि लड़ाने लगेंगे और अपने काम की व्यवस्था उचित रीति से करना साखेंगे।

इन्हीं बातों का बिचार करके अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र में दो प्रकार के स्कूलों की आयोजना की गई है, जिनका प्रचार अब योरोप में भी हो रहा है। इनके नाम डैलटन प्लान (Dalton plan) और प्रोजेक्ट मेथोड (Project method) की शालाएँ हैं। 'डैलटन प्लान' के अनुसार विद्यार्थियों को यह बतला दिया जाता है कि वर्ष समाप्त होने के पहले प्रत्येक विषय में कितना-कितना काम करना है, प्रत्येक मास में कितना करना उचित है। फिर प्रत्येक विद्यार्थी को यह स्वतन्त्रता दे दी जाती है कि वह अपना प्रत्येक मास का कार्य करने के लिये अपना ही टाइम-टेबिल बनाये और अपने साथी ढूँढ़े, स्वयं पुस्तकें पढ़ें और निर्दिष्ट कार्य को शीघ्रतम गति और उत्तम प्रकार से करने की चेष्टा करे। साल-भर का कोर्स पूरा करने की ज़िम्मेदारी विद्यार्थी के ही सिर

पर पढ़ने से उसमें आत्म-गौरव का भाव आने लगता है, वह अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अपना कार्य-क्रम चलाता ही है। यदि साल-भर का काम वह छः या सात महाने में कर ले और वह सन्तोषजनक हो, तो वह दूसरी दफ़ा में चढ़ा दिया जाता है। अन्य स्कूलों में ऐसी कोई उत्तेजना नहीं रहती कि बालक अपने वर्ष का कार्य शीघ्र समाप्त करें। वे तो जानते हैं कि जब वार्षिक परीक्षा होगी, तभी वे तरकी पा सकेंगे, व्यर्थ मिहनत करने से क्या लाभ? यही कारण है कि शिक्षक तथा विद्यार्थिगण छुट्टियों के बड़े शौकीन होते हैं और ज़रा-सा बहाना मिला कि छुट्टी की माँग शुरू होती है।

परन्तु डैलटन-प्लान के स्कूलों में काम समाप्त करने की जिम्मेदारी विद्यार्थियों पर ही रहती है। वे जानते हैं कि यदि साल-भर का काम जल्दी समाप्त कर लिया, तो जल्दी ही ऊँची दफ़ा में जा पहुँचेंगे। काम को जल्दी या देर में करना उनके हाथ में है। उन्हें उचित शीघ्रता से काम समाप्त करने की चिन्ता रहती है। छुट्टियों से वे विशेष प्रेम भी नहीं करते। तीव्रबुद्धि बालक को मन्दबुद्धि बालकों के कारण समय खराब नहीं करना पड़ता।

डैलटन-प्लान की पाठशालाओं में प्रत्येक बालक अपने घर में तथा पाठशाला में अभ्यास करने का टाइम-टेबिल स्वयं बनाता है; और शाला में जिस घण्टे में जिस विषय का अध्ययन करना है, उस विषय के कमरे में आकर अपना काम शुरू कर देना है। उसको पूरा अधिकार है कि अन्य विद्यार्थियों से सहाय्य करके उनके साथ किसी विषय का अध्ययन करे। यदि वह किसी विषय में कच्चा है, तो कोई ऐसा मित्र ढूँढ़ेगा, जो उसे उस विषय में सहायता दे सके।

शिक्षकगण अपने-अपने कमरे में रहते हैं और जिस बालक को

सहायता की आवश्यकता होती है उसको सहायता देने के लिये तैयार रहते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी ने सप्ताह के अन्त तक कितना काम किया, वह जाकर मास्टर को बतलाता है और उसकी जाँच करता है। यदि काम सन्तोषजनक न हुआ, तो विद्यार्थी को वही काम फिर से करना होता है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्राप्ति-द्वारा अपने अभ्यास की उन्नति दिखलाना पड़ता है और यदि साप्ताहिक उन्नति यथोचित रीति से न हुई, तभी शिक्षक का अंकुश लगता है और वह बतला देता है कि इस प्रकार शिथिलता करने से वर्ष का कार्य वर्ष के अन्दर समाप्त न होगा।

सार यह है कि विद्यार्थी की उन्नति का भार उसीके ऊपर रखा जाता है और किस प्रकार उत्तम रीति से कार्य हो सकता है, इसपर विचार करने का भार भी बहुत-कुछ विद्यार्थी पर ही छोड़ दिया जाता है। इससे विद्यार्थिगण स्वावलम्बी होने लगते हैं और जहाँ से भी सहायता मिले, उसको प्राप्त करने के उद्योग में लगे रहते हैं। शिक्षक अधिक पढ़ता नहीं, वह मुख्यतः पथ-प्रदर्शक का कार्य करता रहता है।

डैलटन प्लान की व्यवस्था कुमार-अवस्था के विद्यार्थियों के लिये अर्थात् तेरह-चौदह वर्ष के ऊपर की अवस्थावालों के लिये विशेष लाभकारी सिद्ध होती है।

जीवन में सफलता पाने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य नियत कार्य अर्थात् समस्या अपने हाथ में ले और उसे सफलता-पूर्वक पूरा करे। अंगरेज़ी में समस्या को 'प्रोजेक्ट' कहते हैं। जब कोई इंजिनियर पुल या मकान को बनाना चाहता है, तब वह एक 'प्रोजेक्ट' तैयार करता है, जिसमें निम्नलिखित बातें अवश्य रहती हैं—

(१) जो कुछ बनाना हो, उसका अन्तिम रूप कैसा होगा, इसका विवरण।

(२) उसको बनाने की तरह-तरह की रीतियाँ और उनमें से किस रीति का पालन करना आवश्यक है और उसको पसन्द करने के कारण क्या है ।

(३) उस कार्य को करने के लिये कौन-कौन-सी सामग्री की आवश्यकता है, उसमें क्या खर्च पड़ेगा और कितना समय लगेगा ।

अपने प्रोजेक्ट के अनुसार कार्य को सम्पन्न करने ही में इंजिनियर की सफलता निहित है । इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता पाने के लिये मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्ण विचार कर अपने प्रोजेक्ट बनाना सीखे और उन्हें सफलतापूर्वक समय के भीतर समाप्त करे ।

विद्यार्थियों को जीवन में सफल होने योग्य बनाने के लिये एक नई तरह के स्कूलों का आविष्कार हुआ है, जिन्हें प्रोजेक्ट-मेथड-स्कूल कहते हैं । इनका उद्देश्य यह रहता है कि विद्यार्थिगण अपनी योग्यता के अनुकूल प्रोजेक्ट हाथ में लेकर उन्हें पूरा करना सीखें । शाला की पढ़ाई बहुत-कुछ प्रोजेक्ट के रूप में परिणत की जाती है और प्रोजेक्ट को पूरा करने का काम विद्यार्थियों को सौंपा जाता है । पाठशाला के प्रोजेक्ट में चार शतें रक्खी जाती हैं । कुछ समस्याएँ सामने रक्खी जाती हैं उनको पूर्ण करने के लिये मार्गों की छानबीन तथा उनपर विचार करना होता है । उस कार्य को उचित शीघ्रता तथा व्यवस्था के साथ समाप्त कराने की चेष्टा की जाती है । पहले अनुभवों को प्राप्त करने का ध्यान रहता है और जब अनुभव पूर्ण हो जाते हैं, तभी सिद्धान्त निकालने की चेष्टा की जाती है, उसके पहले नहीं ।

उदाहरण के लिये मान लिया जाय कि बालकों को संयुक्तप्रान्त को रेलों तथा सड़कों का ज्ञान कराना है, तो ज़बानी जमाखर्च न देकर उनको

समस्या दी जायगी। जैसे—पण्डित मोतीलाल नेहरू का देहान्त तारीख छः फरवरी १९३१ ई० को सात बजे सुबह लखनऊ में हुआ और उनका दाहकर्म शाम को आठ बजे प्रयाग में हुआ था; टेलीफोन से सूचना हिन्दुस्तान के प्रायः सब भागों में पहुँच गई थी; तो रेलवे टाइम-टेबिल देखकर यह बतलाओ कि किन-किन स्थानों से उनके मित्रगण अन्तिम क्रिया के समय आ सकेंगे। इस समस्या को हल करने के लिये विद्यार्थियों को निम्नलिखित कार्य और विचार करने पड़ेंगे—

(१) टेलीफोन द्वारा समाचार पहुँचने में अन्दाज से कितना समय लगा होगा; तैयारी करने और स्टेशन पहुँचने में कम-से-कम कितना समय लगना चाहिये।

(२) किन-किन दिशाओं से रेल की गाड़ियाँ सात या साढ़े सात बजे शाम तक प्रयाग पहुँचती हैं; प्रयाग को किन-किन मार्गों से रेल आती है—उनके टाइम-टेबिल देखकर यह निकालना चाहिये कि दूर-से दूर किन स्थानों से मित्रगण कठिनाई से आ सकते हैं और किन स्थानों से आना अशुभव है।

(३) ब्रांच-लाइनों से आनेवाले मेन लाइन के कौन-से जंक्शन-स्टेशन से समय पर पहुँचनेवाली गाड़ी में जा सकते हैं।

(४) मोटर की सड़कें कहाँ-कहाँ से प्रयाग तक आई हैं और मोटर द्वारा कहाँ-कहाँ से लोग अन्तिम क्रिया के लिये पहुँच सकते हैं। यदि पहुँचना कष्टनाथ्य हो, तो किम प्रकार की मोटर लेने से और कितनी औसत गति चलाने से लोग समय पर पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार प्रोजेक्ट लेकर विद्यार्थियों को अनेक बातों पर विचार करना होगा। जैसे—टेलीफोन से शहर में समाचार फैलाने के लिये उचित समय का अवकाश देना, तैयारी करने और रुपये का बन्दोबस्त करने तथा स्टेशन

पहुँचने का समय हिसाब लगाकर निकालना ; रेल और मोटर के मार्गों को जानना और उनकी गति देखना ; मुख्य लाइन, ब्रांच लाइन और दूसरी लाइनों के परस्पर सम्बन्ध को देखना ; प्रत्येक लाइन पर संगम से प्रयाग का निकटवर्ती स्टेशन देखना और स्टेशन से (त्रिवेणी) संगम तक दूरी निकालकर मोटर, ताँगे अथवा एक्के के जाने का समय निकालना इत्यादि ।

इसमें विचार करने की आवश्यकता होगी । कई पुस्तकों को देखकर यथोचित सामग्री इकट्ठी करनी पड़ेगी । रेलवे के टाइम-टेबिल देखने होंगे । और, अन्त में एक नकशा बनाकर पेश करना होगा कि चारों तरफ से कितनी दूर के लोग समय पर हाज़िर हो सकते हैं ।

इस प्रोजेक्ट के द्वारा रेलों तथा सड़कों का जैसा पक्का ज्ञान बालकों को हो सकता है, वैसा ज्ञान कुछ सबक पढ़ाने से नहीं हो सकता ।

दूसरा उदाहरण—इस पृथ्वी पर कितना गोहूँ उत्पन्न होता है ? क्या उतना गोहूँ दुनिया-भर के मनुष्यों के लिये काफी है ? और, यदि काफी नहीं है, तो किन-किन भागों में इसकी उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है ?

इस प्रोजेक्ट (समस्या) को हल करने के लिये विद्यार्थियों को निम्न-लिखित बातों पर विचार करना होगा—

(१) गोहूँ उत्पन्न करनेवाले प्रत्येक देश में कितने एकड़ जमीन में गोहूँ बोया जाता है । हर-एक देश में गोहूँ की उपज प्रति एकड़ के हिसाब से कितनी होती है ? इसका लेखा लगाना आवश्यक है ; क्योंकि किसी प्रदेश में पँचगुना भी उत्पन्न हुआ, तो सोलह आना फ़सल मानते हैं, कहीं सतगुने से नवगुने तक में पूरी फ़सल समझते हैं और कैनेडा के कई भागों में बीसगुनी तक फ़सल पैदा होती है । यह सब मसाला इकट्ठा करके विद्यार्थी यह निकालेंगे कि पृथ्वी-भर में कुल कितना गोहूँ पैदा होता है ।

(२) प्रत्येक मनुष्य को कितना गोहूँ रोज़ खाने को चाहिये और

साल-भर में कितना गोहूँ मिलने से उसका काम चल सकता है, अन्य अन्नो-द्वारा उसके उदर की पूर्ति कहाँ तक हो सकती है और उन भागों की जन-संख्या कितनी है, जहाँ के निवासी गोहूँ हज़म नहीं कर सकते और इसलिये उसका उपयोग उन देशों में नहीं होता ?

(३) दुनिया के किन-किन भागों में ऐसी आब-हवा और ज़मीन है, जहाँ उद्योग करने पर गोहूँ उत्पन्न किया जा सकता है और कहाँ आब-पाशी का इन्तज़ाम होने से यह काम हो सकता है । शीत-ऋतु में कहाँ-कहाँ और गीष्मऋतु में कहाँ-कहाँ गोहूँ की पैदावार बढ़ाई जा सकती है ?

इसमें भी उत्तर देने के लिये अनुभव का उपयोग, विचार और कार्य-सामग्री संग्रह करने की आवश्यकता है ; तभी समस्या हल हो सकती है । कदाचित् यह आक्षेप किया जाय कि इस प्रकार समस्याएँ देने से स्कूल के शिक्षा-पत्र वर्ष-भर में कैसे समाप्त किये जा सकते हैं । आक्षेप बहुत ठीक है ; परन्तु ऐसी समस्याएँ हल करने से भूगोल आदि विषयों का कैसा पक्का और पूरा ज्ञान हो जायगा ? विद्यार्थिगण 'पड़ो पर्वते गंगा राम' न बनकर सचमुच गुणो हो जायेंगे । शिक्षा-पत्र बालकों के लाभार्थ बनाये जाते हैं, न कि बालक शिक्षा-पत्र के लाभार्थ उत्पन्न हुए हैं । यदि आधुनिक शिक्षा-पत्रों से बालकों को यथोचित लाभ नहीं होता, तो उन्हें बदलना चाहिये । बालकों को केवल पढ़ाने से लाभ नहीं ; वरन् उन्हें गुनना भी सिखाना चाहिये ।

उपर्युक्त उदाहरण देने में मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि किसी विदेशी संस्था की नक़ल आँख मूँदकर—बिना देश, काल या पात्र का विचार किये—हिन्दुस्तान की पाठशालाओं में जारी कर दी जाय । अभिप्राय केवल यह दिखाने का है कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली विद्यार्थियों को स्वतन्त्र और नियमित जीवन के लिये तैयार नहीं कर रही है । और,

डैलटन-प्लान के द्वारा पश्चिमी देशों में विद्यार्थियों को स्वावलम्बी और नियमबद्ध बनाने का तथा उन्हें स्वतन्त्र जीवन के लिये तैयार करने का उद्योग हो रहा है। यदि बारीकी से देखा जाय, तो पुराने समय में संस्कृत-पाठशालाओं में एक प्रकार के डैलटन-प्लान का ही उपयोग होता था। गुरु महाशय प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी योग्यता के अनुसार काम करने को देते थे और विद्यार्थिगण स्वावलम्बन के द्वारा, अथवा एक दूसरे का सहयोग करके, निर्दिष्ट कार्य समाप्त कर गुरुजी को दिखा देते थे। यही प्रथा डैलटन-प्लान की भी है। पश्चिमी लोग कार्य करने की व्यवस्था बड़ी बारीकी से करते हैं, यह उनका जातीय गुण है। इस कारण उन्होंने डैलटन-प्लान के कार्यक्रम की व्यवस्था इतनी बारीकी से कर दिखलाई है कि उसके कारण ढोल-ढाल नहीं होने पाती, समय व्यर्थ नहीं जाता और शाला के प्रत्येक व्यक्ति को विदित रहता है कि अब आगे क्या करना है।

हम लोग यह बात भूल जाते हैं कि बालक एक ऊँचे दर्जे का जीव है। जिस प्रकार एक पौधा विशेष नियमों के अनुसार पैदा होता है, विशेष प्रकार का खाद्य और जल लेता है, विशेष समय पर फूटता-फलता है और माली को सफलता तभी तक प्राप्त होती है, जब तक वह इन नियमों को ध्यान में रखकर उसकी बाढ़ में सहायता देता रहता है। थोड़ा-बहुत काँट-छाँट वह भले ही कर ले; परन्तु अन्त में उस पौधे के जीवन के नियमों का पालन करने ही से उसे सफलता मिलती है। ठीक उसी प्रकार बालक भी एक बहुत ऊँचे दर्जे का वनस्पति है। प्रत्येक बालक में कुछ-न-कुछ विशेषता रहती है और उसकी भलाई इसी में है कि उसका माली अर्थात् शिक्षक उसके विकास के नियमों को समझे और उसकी विशेषता का ह्रास न होने दे। आम आम ही रहेगा, अमरूद नहीं हो सकता; अमरूद अमरूद ही रहेगा, आम नहीं हो सकता।

परन्तु आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से भंटा-भाजी एक भाव हो रहे हैं, सब प्रकार के बालकों को एक ही कोर्स, एक ही समय, एक ही शिक्षा-पत्र और एक ही-सा अभ्यास कराया जाता है। जिस प्रकार ढाँचे में ढालकर एक ही रूप-रंग की अनेक वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, उसी प्रकार स्कूल के ढाँचे में ढाल-ढालकर एक ही प्रकार के मनुष्य तैयार किये जाते हैं। आज-कल के स्कूल एक चुहत मशीन के समान हो रहे हैं, जिनसे एक ही प्रकार के सामान तैयार हो रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य में जो विशेषता है, वह इस मशीन-द्वारा नष्ट हो जाती है।

विद्वानों का धर्म है कि स्कूलों की ऐसी व्यवस्था रखें कि किसीका व्यक्ति-विशेषत्व न निकलने पावे ; पाठशालाओं का नियोजन इस प्रकार से किया जाय कि अनेक बन्धन रहने पर भी प्रत्येक विद्यार्थी को इतनी स्वतन्त्रता मिले कि वह अपनी व्याक्तिगत विशेषता भी बढ़ा सके। इसके लिये निर्दोष (hobbies) शौक बढ़ाने का अवकाश दिया जाय। किसी विद्यार्थी को चित्रकला से विशेष प्रेम हो, किसीको संगीत से हो, किसीको नीरन्दाजी से हो, किसीको दुनिया के सब देशों के स्टाम्प-संग्रह करने का शौक हो अथवा अन्य किसी प्रकार का निर्दोष उत्साह हो, तो उसको बढ़ाने का हमेशा अवकाश और प्रोत्साहन दिया जाय। शिक्षा-पत्र में ये विषय हों या न हों, इसकी तनिक भी परवा न करनी चाहिये। इस प्रकार उत्साह बढ़ाने से ही विद्यार्थिगण बड़े होने पर नामी विद्वान्, वैज्ञानिक, शिल्प-शास्त्रा इत्यादि हो सकेंगे। जिस देश में जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नामी विशेषज्ञ जितना ही अधिक होंगे, उतना ही अधिक वह देश सभ्यता के सोपान पर ऊपर चढ़ेगा।

भाषा-शिक्षण का लक्ष्य

बालकों को प्रजातन्त्र-प्रणाली के अनुकूल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि पाठशालाओं में जो भिन्न-भिन्न विषय पढ़ाये जाते हैं, उनके लक्ष्य की ओर हम लोग ध्यान दें और यह देखें कि उस लक्ष्य का पालन करने से कार्य कहाँ तक सधता है। इस दृष्टि से भाषा और इतिहास विशेष करके अधिक महत्व के हैं और उनकी शिक्षण-शैली पर विशेष विचार की आवश्यकता है।

भाषा सिखाने का मुख्य उद्देश्य यह है कि विद्यार्थिगण दूसरों के विचार ठीक-ठीक समझना और अपने विचार स्पष्ट रीति से प्रकट करना सीखें। विचार बोलकर अथवा लिखकर प्रकट किये जाते हैं। इसलिये विद्यार्थियों में दो प्रकार की योग्यता आनी चाहिये—दूसरे के भाषण को उचित शीघ्रता से समझ लेना और उसके लेख का शुद्ध अर्थ ग्रहण करना। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने विचार या तो बोलकर प्रकट करता है अथवा लिखकर। वह जितना स्पष्ट बोलेंगा या लिखेगा, उतना ही अधिक शीघ्रता से अन्य लोग उसके मन के भाव समझ सकेंगे।

उपर्युक्त विवरण से भाषा-शिक्षण के चार मुख्य अंग हो जाते हैं—
(१) दूसरों के भाषण को समझना, (२) दूसरों के लेख बाँचना और उनका अर्थ निकालना, (३) अपने मन के भावों को जबानी प्रकट करना, (४) उन्हें लिखकर प्रकट करना।

यह विषय इसलिये पढ़ाया जाता है कि शिक्षित मनुष्यों को पारस्परिक व्यवहार और वार्तालाप में सुभीता रहे ; परन्तु यह सुभीता तभी बढ़ेगा, जब भाषा इस प्रकार पढ़ाई जाय कि जिन शब्दों का उपयोग कोई मनुष्य करता हो, उनका अर्थ दूसरे लोग वही समझें जो कहनेवाले के मन में है। मान लिया जाय कि मुझे अपने मन के भाव दूसरों पर प्रकट करना है और मैं भाषा का उपयोग करता हूँ ; परन्तु मेरी बात दूसरे समझेंगे या नहीं, यह इस बात पर अवलम्बित है कि जिन शब्दों का उपयोग मैं कर रहा हूँ, उनके अर्थ सुननेवाले वही ग्रहण करें, जो मेरे मन में है। उदाहरणार्थ, मैंने कहा कि प्लेग एक संक्रामक रोग है। मेरे मन में यह भाव है कि प्लेग की बीमारी किसी ऐसे विशेष कमरे में जाने से लगती है, जहाँ प्लेग के सूहे की मृत्यु हो गई हो। यदि सुनने या बाँचनेवाले 'संक्रामक' शब्द का अर्थ वही समझें, जो मेरे मन में है, तो मेरा भाव उनके सामने स्पष्ट हो जायगा ; परन्तु, यदि 'संक्रामक' शब्द का अर्थ वे लोग यह समझें कि "यह उड़नेवाला रोग है, बीमार के पास आने से लग जाता है," तो व्यर्थ का भ्रम उत्पन्न हो जायगा। भाषा के शब्दों का बिना विचारे उपयोग करने से बहुधा इस प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो जाया करते हैं—विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र में, जहाँ मत-मतान्तर होना स्वाभाविक है।

एक समय की बात है कि एक व्याख्यानदाता ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि इस्तमरारी बन्दोबस्त से किसानों को कोई लाभ न हुआ, यदि हुआ तो केवल ज़मींदारों को ही ; परन्तु दूसरे दिन पत्रों में कुछ विलक्षण रिपोर्ट देखने में आई, जिसका अर्थ यह निकलता था कि वक्ता महोदय देश-द्रोही हैं। कारण, उन्होंने लार्ड कार्नवालिस के लाभकारी इस्तमरारी बन्दोबस्त का विरोध किया। बिचारे वक्ता को चारों तरफ से

फटकार मिलनी शुरू हुई; परन्तु यथार्थ में वक्ता ने केवल यही कहा था कि ज़मींदारों का जब इस्तमरारी बन्दोबस्त हुआ, तब किसानों का लगान भी हमेशा के लिये निश्चित किया जाना आवश्यक था और तभी किसानों को फ़ायदा होता। इसमें देश-द्रोह कहाँ से पहुँच गया, सो समझ में नहीं आता। लोगों में जो भ्रम हुआ, उसका कारण केवल यही था कि जिस अर्थ में वक्ता ने शब्दों का प्रयोग किया, उसका अर्थ सुनने-वालों की समझ में न आया।

इसी प्रकार एक दूसरे के भावों की ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण जीवन के अनेक क्षेत्रों में द्वेष, कटाक्ष, ईर्ष्या और मनमुटाव फैल जाता है। यदि भाषा की उत्तम शिक्षा देने से यह सब काम हो सकें, तो समाज का कितना उपकार हो सकेगा ?

अब प्रश्न यह उठता है कि पाठशालाओं में इसके लिये किस प्रकार प्रयत्न करना चाहिये। एक तो यह आवश्यक है कि शब्दों और वाक्यों का अर्थ बारीकी से निकालना सिखाया जाय। कोष की सहायता से शब्दों के अर्थ अधिक बारीकी से निकालते हैं, ज़बानी अर्थ बतलाने में थोड़ी-बहुत अनिश्चितता आ ही जाती है। इस कारण दृक्शानरी या कोष का प्रयोग बराबर किया या कराया जाय, ज़बानी जमाखर्च न होने पावे।

दूसरे किसीके वचन को बिना अच्छी तरह समझे, उसपर कटाक्ष न होने देना चाहिये; क्योंकि इससे अन्याय हो जाता है। लेखक का अथवा बोलनेवाले का भाव पूरी तरह समझना आवश्यक है, तभी उसपर टीका-टिप्पणी हो सकती है। उदाहरण के लिये, तुलसीदासजी ने हनुमानजी के मुख से नम्रता दिखलाने के लिये यह कहलाया है कि— 'प्रातः लेइ जो नाम हमारा, ता दिन ताहि न मिलै अहारा।' किन्तु कई

विचित्र खोपड़ी के मनुष्यों को, इसी वचन के आधार पर, सुबह हनुमानजी का नाम लेनेवाले बालकों को डाँटते हुए मैंने सुना है । उनसे पूछा जाना चाहिये कि तुलसीदासजी ने हनुमानजी को कहाँ पापी बतलाया है और हनुमानजी के नम्रता के वचनों का यह अर्थ निकालना कहाँ तक न्याय है ? मैंने तो अनेक बार प्रातःकाल उनका नाम लिया है, उस दिन ईश्वर की कृपा से भरपूर आहार मिल ही गया ! इस प्रश्न पर लोग अपनी अक्ल-शरीफ का उपयोग क्यों नहीं करते ? ज़रा विचारने की बात है कि हनुमानजी-सरीखे रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त, जिनकी महिमा तुलसीदासजी ने उत्तम प्रकार से गाई है, क्या कभी ऐमे पतित हो सकते हैं कि सुबह उनका नाम लेने से दिन-भर खाना नसीब न हो ?

इसी प्रकार तुलसीदासजी के अनेक वचनों का, तोड़-मरोड़कर, एक-दम उलटा अर्थ किया जाता है । इसमें यह सिद्ध हो जाता है कि पढ़ना सरल है, और गुनना कठिन । उदाहरण के लिये, 'समर्थ को नहिं दोष गुसाई' का अर्थ यह लगाया जाता है कि सामर्थ्यवान् यदि कोई अनुचित कार्य कर जाय, तो कोई दोष नहीं है । ऐसा अर्थ करना न्याययुक्त नहीं । उसका केवल यह अर्थ है कि समर्थ से यदि कोई अनुचित कार्य हो जाय, तो गरीब आदमी खामोशी अख्तियार करने के सिवा और क्या कर सकते हैं । ऐसा अर्थ अलबत्ता न्याय-युक्त हो सकता है ।

पुराणों और शास्त्रों को देखने से विदित होगा कि हिन्दू-धर्म का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मनुष्य जितना सामर्थ्यवान् हो उतना ही अधिक उसका उत्तरदायित्व है । राजा नृप ने धोखे में एक गाय दुबारा दान कर दी, तो उसे गिरगिट-योनि में जन्म लेना पड़ा । अज्ञा-मिल ने धोखे में नारायण का नाम ले लिया, तो उसे मोक्ष मिल गया । विद्वान् मनुष्य से यदि गलती हो, तो उसकी ज़िम्मेदारी अधिक है ;

परन्तु मूर्ख और अपढ़ थोड़ा-सा भी पुण्य कार्य कर जाय, तो उतने ही में उसको शाबाशी भी मिल जाती है ।

ऐसे सिद्धान्त के होते हुए हम कैसे मान सकते हैं कि तुलसीदासजी ने सचमुच यह कहा कि—‘समर्थ बुरा करे तो कोई दोष नहीं है !’

इसी प्रकार के कुतर्कों द्वारा खुशामदी लोग राजा, महाराजाओं तथा जमींदारों को बहकाते और उनसे अन्याय कराते हैं । सार यह है कि किसीके शब्दों का अर्थ लगाते समय उसकी चित्तवृत्ति देखकर और सोच-विचारकर बालकों को सिखाना चाहिये ।

मनोविज्ञान का अध्ययन करनेवाले यह बात जानते हैं कि गोलमटोल भाषा का उपयोग करनेवाले मनुष्य बहुधा मन्दबुद्धि होते हैं । जब तक बारीकी से विचार प्रकट करना लोग न सीखेंगे, तब तक बारीकी से विचार प्रकट करना भी उनके लिये असम्भव है । भाषा-शिक्षा से तीव्र बुद्धि तभी होगी, जब अर्थ को तौल-तौल करके, मन के भावों को बारीकी से प्रकट करते हुए, शब्दों और मुहावरों का उपयोग किया जाय । यदि कोई बीमार आदमी अपनी पीड़ा का वर्णन डाक्टर या वैद्य के सामने ठीक-ठीक और बारीकी से कह दे, तो उसका रोग जल्दी पहचाना जायगा और इलाज भी ठीक होगा ; परन्तु यदि वह गोलमटोल बतलाये—जैसा कि अनेक मरीज करते हैं—तो रोग का निदान कठिन हो जायगा । कई बार बीमारों को मैंने इस तरह दुःख-वर्णन करते सुना—

‘न जाने कैसे-कैसे मालूम होता है, शरीर में कहीं दर्द है, पेट पर पत्थर-सा मालूम होता है ।’

इस प्रकार के वर्णन से इतना तो स्पष्ट है कि कहनेवाले ने बारीकी से अपने रोग का अवलोकन नहीं किया और यदि किया भी है, तो अपने दुःख या रोग का वर्णन करने की शक्ति उसमें नहीं है ।

स्कूलों में बहुधा यह देखा जाता है कि बालक जब कुछ कहते हैं, तब थोड़ा-बहुत बढ़ाकर बतलाने की चेष्टा करते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि वे झूठ बोलना चाहते हैं; परन्तु केवल यही कि कोई विशेष बात उनको इतने महत्व की दिखाती है कि अन्य बातों का अनुपात उनकी दृष्टि से अलग हो जाता है।

एक बार एक छोटा-सा बालक मेरे पास शिकायत करने आया कि फलों ने मेरा हाथ तोड़ दिया और प्राण ले लिये। तद्दकीकात करने से मालूम हुआ कि दूसरे बालक ने उसकी छोटी डँगली पर रूखर से मार दिया था। जब बालक से पूछा गया कि तुम्हारा हाथ कहीं टूटा है और यदि तुम मर गये तो बोल कैसे सके, तब उसको अपने कहने पर हँसी आने लगी ! रोता आया था, हँसता हुआ चला गया। वास्तव में उसकी इच्छा कुछ झूठ बोलने की नहीं थी; परन्तु अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक होने से उसका कथन मिथ्या निकला। यदि उसको भाषा की ठीक शिक्षा मिलती रहे, तो वही बालक सब बोलना और शब्दों को तौल-तौलकर कहना सीख जाय।

स्कूलों में अनेक वाक्यों का ऐसा प्रयोग होता है, जिनसे सरासर असत्यता झलकती है और यदि ऐसे कथनों पर मास्टर लोग टीका न करें, तो धीरे-धीरे विद्यार्थी मिथ्या बोलना सीख जाते हैं।

एक-दो उदाहरण देने से मेरा कथन सत्य प्रतीत होगा। एक विद्यार्थी ने अपने इम्तहान के पर्चे में यह लिखा कि पृथ्वी गोल है और उसके प्रमाण निम्नलिखित हैं—

‘जब ग्रहण पड़ता है, तब पृथ्वी की जो छाया सूर्य अथवा चन्द्र पर पड़ती है वह गोल है। जब जहाज़ बन्दर के निकट आता है, तब पहले मस्तूल दीखती है, पीछे धड़ और अन्त में पेंदी इत्यादि। मैंने उसे बुला कर पूछा—

(१) तुमने किसी जहाज़ को बन्दर तक आते हुए देखा है ?
नहीं ।

(२) तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि पृथ्वी की छाया सूर्य या चन्द्र पर पड़ी, अन्य किसी वस्तु की नहीं ?

मुझे नहीं मालूम ; पर पुस्तक में ऐसा लिखा है ।

(३) क्या तुम्हें सचमुच विश्वास है कि पृथ्वी गोल है ?
नहीं ।

(४) तो फिर तुमने पच्चे में क्यों लिखा कि पृथ्वी गोल है ?
पुस्तक में ऐसा लिखा है ।

‘पुस्तक में लिखा है कि पृथ्वी गोल है’ और ‘पृथ्वी गोल है’

इन दोनों वाक्यों के अर्थ में भेद है । ‘पृथ्वी गोल है’ ऐसा कहने से यह भाव प्रकट होता है कि वक्ता को इसका निश्चय है । यदि उसे विश्वास नहीं है, तो उसे केवल यह कहना चाहिये कि पुस्तक में ऐसा लिखा है । तभी उसके मन के भाव सत्यता-पूर्ण होंगे । किसी दूसरे के शब्दों को विना विचारे अपना कह डालना अन्याय है ।

कदाचित् यह प्रश्न उठे कि बालक परीक्षा में सत्य बात कह दे, तो उसके नम्बर तो न कटेंगे ; किन्तु कोई भी समझदार परीक्षक सच बोलने पर नम्बर न काटेगा । यद्यपि मुझे स्वतः निश्चय है कि—पृथ्वी गोल है ; परन्तु फिर भी किसी ऐसे बालक के मुँह से—जिसे यह बात सत्य नहीं प्रतीत होती—ज़बरदस्ती कहलाना कि पृथ्वी गोल है, मुझे कदापि अंगीकार नहीं ।

वपर्युक्त उदाहरणों से प्रतीत होगा कि अपने विचारों को शुद्धता-पूर्वक और सत्य को बारीकी से प्रकट करना भाषा-शिक्षण का मुख्य अंग है । उससे ऊँचे दर्जे की नैतिक शिक्षा होती है । दूसरे के विचारों

को ठीक-ठीक समझना और कहना भी भाषा-शिक्षण का एक आवश्यक अंग है ; परन्तु इसके सिवा प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि जो कुछ लिखे या पढ़े, उसपर विचार करे और यह देखे कि उसमें सत्य का अंश कितना है । अनेक लोगों का यह भ्रम है कि जो कुछ पुस्तक में छपा हुआ देखने को मिलता है, वह 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के समान है ; परन्तु प्रत्येक शिक्षित मनुष्य का धर्म है कि जो कुछ पढ़े या सुने, उसपर अपना तर्क-शक्ति का उपयोग करके यह निश्चय करे कि उसमें कहाँ तक तथ्य हो सकता है । नवीन युग में मतमतान्तर, खण्डन-मण्डन और आक्षेप-प्रत्याक्षेप होते ही रहेंगे तथा जनता को बार-बार यह निर्णय करना पड़ेगा कि कौन-सी बात कहाँ तक सत्य हो सकती है । पाठशालाओं में भाषा सिखाते समय यदि तर्क-शक्ति का बराबर उपयोग किया जाय, तो विद्यार्थियों में ऐसे प्रश्न का निर्णय करने की शक्ति अवश्य आवेगी ।

उदाहरण के लिये एक ऐतिहासिक दन्त-कथा ले लीजिये । ऐसा कहा जाता है कि सिराजुद्दौला ने एक सौ छियालिस अँगरेजों को एक छोटी-सी कोठरी में—जो बाइस फीट लम्बी और उतनी ही चौड़ी थी—रात-भर बन्द रक्खा, जिसका नतीजा यह हुआ कि दूसरे दिन सबेरे केवल तेइस अँगरेज जीते निकले ! ज़रा विचारना चाहिये कि २२ × २२ वर्ग-फीट कमरे में कितने आदमी खड़े किये जा सकते हैं । यदि एक आदमी के लिये कम-से-कम दो वर्ग-फीट की जगह आवश्यक मानी जाय, तो उस कोठरी में अधिक-से-अधिक एक सौ इक्कास आदमी समा सकते थे—सो भी भूख से दूटे, दुबले-पतले हिन्दुस्तानी हों, तो भले समा जाय; परन्तु दृष्ट-पुष्ट तगड़े अँगरेजों को उतनी संख्या में भी भरना कठिन है । इसलिये सिद्ध होता है कि काल-कोठरी (Black Hole) की कथा यदि मिथ्या नहीं है, तो बढ़ा-चढ़ा-कर कही हुई अवश्य ही है ।

इस प्रकार तर्क करते रहने से मनुष्य चौकन्ना रहने लगता है और किसी बात पर बिना सोचे-विचारे विश्वास नहीं करता ।

अनेक लोग ऐसे मिलेंगे, जो असम्भव-से-असम्भव बात पर भी विश्वास कर लेते हैं । लखनऊ के एक मौलवी साहब की कथा है—वे परदेश में रहते थे । कुछ दिन के बाद उनके घर का नौकर आया । उसने समाचार दिया कि आपकी बेगम साहिबा बेवा (विधवा) हो गई हैं । इतना सुनते ही मौलवी साहब फौरन ग़म मनाने लगे । अपने दोस्तों को भी ख़बर दे दी कि आकर मातम कीजिये । मित्रों ने आकर बहुत सम-भाया कि आपके ज़िन्दा रहते आपकी बेगम कैसे बेवा हो सकती है । मौलवी साहब ने जवाब दिया, इतना तो मैं भी समझ सकता हूँ—खुदा ने मुझे भी कुछ अक्ल दी है ; लेकिन मेरा नौकर मेरे ख़ानदान में सात पुश्त से है, वह भूठ हरगिज़ न बोलेगा !

लाहौल बिला कूबत ! अगर मौलवी साहब से कोई यह कह देता कि उनकी नाक कौवा ले गया, तो सम्भवतः वे अपनी नाक पर हाथ न फेर कर कौवे का पीछा करना शुरू कर देते !

यह तो कहानी ठहरी; परन्तु याथार्थ में मौलवी साहब के बड़े भाई नहीं, तो छोटे भाई हर जगह मिलेंगे, जो सम्भव-असम्भव का विचार किये बिना ही चाहे किसी भी बात पर विश्वास करने को तैयार रहते हैं ।

कवि लोग अपनी कविता में कभी रूपक का उपयोग करते हैं, कभी अतिशयोक्ति का और कभी किसी दूसरे अलंकार का । विचारवान मनुष्य सार को ग्रहण करेगा, बाल की खाल न उधेड़ेगा ।

आल्हाखण्ड में एक पद्य इस प्रकार है—

‘रिमझिम-रिमझिम नचै पतुरिया ।

जाके जमीं न लागै पाँय ॥’

इसके आधार पर एक हज़रत ऐसा कहने लगे कि आल्हा-ऊदल के दरबार में ऐसी पतुरियाँ थीं, जो धरती पर पैर तक नहीं रखती थीं !

पद्य का अर्थ केवल इतना ही है कि वे इतनी तेज़ नाचती थीं कि उनके पैर धरती पर पड़ते दिखते ही न थे ; परन्तु यथार्थ अर्थ ग्रहण न करके वे सुज्जन यह अर्थ लगाने लगे कि वे हवा में ही नाचती थीं ! जो कार्य बड़े-बड़े महात्माओं तथा साधुओं से नहीं हो सका, वह उनके मत से आल्हा के दरबार की पतुरियों ने कर दिखाया !

रामायण की कथा में ऐसा कहा जाता है कि रावण के दस सिर और उनके ऊपर एक गदहे का सिर तथा बीस हाथ थे । शब्दार्थ से ऐसा अर्थ भले निकलता हो ; पर यथार्थतः इस कथा में रूपक है । विचारने की बात है कि यदि किसी मनुष्य के कन्धे से बीस हाथ निकले हुए हों, तो कोई भी हाथ क्या किसी काम का हो सकता है ? अंगूर के गुच्छे में यदि एक अंगूर को हिलायें, तो वह दूसरे अंगूरों के कारण सुगमता से हिल नहीं सकता । तो क्या यह सम्भव है कि एक कन्धे से दस सिर निकल सकें और वे काफी बड़े भी हों ?

चाणक्य ने अपनी नीति में कहा है कि यदि प्रत्यक्ष भी देख रहे हो, तो भी असम्भव बात को मुख से मत निकालो । जैसे—पत्थर तैर रहा है, अथवा बन्दर गाते हैं ।

मेरी समझ में रावण को दशशीश अथवा दशकन्धर कहने का अर्थ केवल यही है कि उसमें दस मनुष्यों के बराबर ताकत थी और उतनी ही बुद्धि भी थी ; किन्तु इतनी काफ़ी बुद्धि होने पर भी वह पूरा गदहा निकला ; इसीलिये यह कहा गया कि दस सिरों के बीच में एक गदहे का भी सिर था ।

जो अर्थ हिन्दी में दशशीश द्वारा प्रगट होता है, वही अर्थ गुजराती भाषा में 'ढोढ़ ढाहो' और मरहठी के 'दीढ़ शहाणा' अर्थात् 'ढ्योढ़ा होशियार' से निकलता है । तात्पर्य यह कि रावण बहुत बुद्धिमान अवस्थ

था, पर अति बुद्धिमान होने के कारण बेवकूफी कर गया। वस्तुतः यही अर्थ कथा से पूर्णतया घटित होता है; परन्तु अनेक शब्दाडम्बरी पण्डित ऐसे मिलेंगे, जो रूपक के भाव को न लेकर शब्दार्थ के सहारे असम्भव बातों पर विश्वास करने को कहेंगे।

भाषा-शिक्षण के मुख्य सिद्धान्तों को ऊपर दिखलाने की चेष्टा की गई है। अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि पाठ्य पुस्तकों-द्वारा देश-प्रेम और जनता-प्रणाली के आदर्श किस तरह सिखलाये जा सकते हैं।

इसके लिये आदर्श पुरुषों की जीवनी बहुत लाभकारी हो सकती है; क्योंकि अच्छे आदर्श सामने होने से विद्यार्थियों के आदर्श भी ऊँचे होने लगेंगे। स्वेच्छाचार-प्रणाली के समय राजा-महाराजा, रानी-महारानी और नवाबों तथा बेगमों की कथाएँ पाठ्य पुस्तकों में अधिक रहती थीं। कारण, वे ही हमारे आदर्श थे; परन्तु अब गरीब मनुष्यों के जीवन की ओर भी लक्ष्य देना ज़रूरी है। मामूली मेहतर, चमार, कुली, किसान आदि की जीवनी से भी जनता को अनेक उपदेश मिल सकते हैं। और, यदि उनमें से किसी का चरित्र उत्तम हो, तो उन्हीं के आदर्श क्यों न बालकों के सामने रखे जावें ?

बालकों में जनता से प्रेम कराने का एक ज़रिया यह भी है कि वे गरीब मनुष्यों की जीवनी पर अधिक ध्यान देना सीखें। उनमें अनेक ऐसे मिलेंगे, जिनकी जीवनी प्रभावशाली हो सकती है।

जीवनी के सिवा देश के उत्तम-उत्तम स्थानों का भी वर्णन पाठ्य पुस्तकों में दिया जाना चाहिये। जैसे—काश्मीर का दर्रा, हिमालय की श्रेणी, भोर-घाट के दृश्य, नीलगिरि का अनुपम सौन्दर्य इत्यादि। इस प्रकार के पाठों से देश-प्रेम जाग्रत होता है।

देश की कलाओं में प्रेम उत्पन्न करने के लिये आदर्श हमारतों तथा कलाओं का वर्णन भी होना चाहिये। जैसे—ताजमहल, अजन्ता की

गुफाएँ, सारनाथ में पत्थर के बने हुए अनुपम सिंहों का सौन्दर्य इत्यादि ।

देश के परमोत्तम वीरोचित या आत्मत्याग-पूर्ण कार्यों का वर्णन जिस पाठ्य पुस्तक में नहीं है, वह मियाँ चिराग अली के सुपुर्द करने लायक है । उदाहरण के लिये—वीरश्रेष्ठ दुर्गादास राठौर के आत्मत्याग की कहानी, भामाशाह का सर्वस्व-समर्पण, पन्ना धाई की स्वामिभक्ति इत्यादि—ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जिन्हें सुनकर प्रत्येक देशी भाई को अभिमान हो सकता है । ऐसी कथाएँ पाठ्य पुस्तकों में अवश्य रहें ।

इन सबके होते हुए भी विदेशी आदर्श चरित्र ऐसे आने चाहियें, जिनके समान कोई चरित्र देश के इतिहास में न मिलता हो । जैसे—कोलम्बस की समुद्र-यात्रा, क्रीमियाँ-युद्ध के समय फ्लारेन्स नाइटिंगेल-द्वारा की गई घायल सिपाहियों की सेवा, एवरेस्ट चोटी पर चढ़ने का उद्योग करने वाली टोली की साहसिकतापूर्ण असफल रण-यात्रा, उत्तर और दक्षिण ध्रुवों की खोज इत्यादि ।



इतिहास और उसका महत्व

पाठशालाओं और कालेजों में इतिहास सिखाने का कारण यह है कि भूतकाल को समझे बिना मनुष्य के लिये वर्तमान काल की स्थितियों को समझना कठिन है। राजनीतिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि जनता में वर्तमान स्थितियों के समझने की योग्यता हो ; परन्तु यह योग्यता तब तक पूर्णतया नहीं आ सकती, जब तक इतिहास के अध्ययन से पिछले समय का ज्ञान थोड़ा-बहुत न हो जावे। आधुनिक ज़मींदारी तथा लगान-बन्दी की प्रथा अच्छी तरह तभी समझ में आवेगी, जब हिन्दू-राजाओं तथा मुगलों के समय की प्रथा का भी अध्ययन किया जाय। हिन्दू-राजा लोग रक्षा करने के बदले में उपज का छठा हिस्सा लिया करते थे। राज-पूत-काल के राजा लोग अपने भाई-बन्धों को रियासत देते थे, जिसमें यह शर्त रहती थी कि आवश्यकता पड़ने पर वे सिपाहियों और सवारों की नियत संख्या लेकर राजा की मदद को आवें। इस प्रथा को अँगरेज़ी में 'फ्यूडलिज़्म' कहते हैं। इसका परिवर्तित रूप राजपूताने में आज तक देखने में आता है। मुगलों के समय की मनसबदारी भी एक प्रकार की फ्यूडलिज़्म ही थी। अकबर ने उसका रूप-परिवर्तन कर सेना को वेतन देना आरम्भ किया। अँगरेज़ी सरकार ने ज़मींदारों से, जो यथार्थ में ठेकेदार हैं, लगान लेना शुरू कर दिया। इस तरह जो प्रथा आजकल प्रचलित है,

उसकी नींव बहुत पुराने समय में ही पड़ी थी। यदि उसे सुधारना हो, तो उसका इतिहास अवश्य देखना पड़ेगा।

इतिहास के अध्ययन से हमें अपने पूर्वजों के अनुभवों का ज्ञान होता है और आधुनिक राज्य-प्रणाली में जनता उसका उपयोग कर सकती है। औरंगज़ेब के समय मुगल-साम्राज्य अत्यन्त प्रबल हो गया था। ऐसा मालूम होता था कि अब इसका पाया कभी न हिलेगा; परन्तु उसके मरने के चालीस वर्ष के भीतर ही बादशाहत ज़मींदोज़ हो गई। इसका क्या कारण था? कारण यह हुआ कि औरंगज़ेब की कुटिल राजनीति से हिन्दू-जाति अप्रसन्न हो गई, और अन्त में हमले कर-करके बादशाहत को गिरा दिया। इससे सार यह निकलता है कि राजा या राज्याधिकारियों में धर्मान्धता प्रबल होने से राज्य का नाश हो जाता है। राजा या राज्याधिकारी यदि पादरी, मुल्ला या धर्मोपदेशक बनने का हौसला रखे, तो यह समझना चाहिये कि राज्य की खेरियत नहीं है। राजा का काम प्रजा की रक्षा करना है, न कि धर्म का सुधार। धर्म सुधार जनता के द्वारा हो सकता है, न कि राजा के द्वारा।

इस प्रकार के अनेक बहुमूल्य उपदेश इतिहास के अध्ययन द्वारा जनता को प्राप्त हो सकते हैं।

इतिहास के अध्ययन से तभी लाभ हो सकता है, जब पाठ्य पुस्तकों में हमारी सभ्यता, संस्कृति, आचार और विचार का निष्कलंक चित्र दिया जाय। इनमें जो उत्तम बातें हैं, उन पर अवधारण देने से पढ़नेवाले को आत्म-गौरव होता है। परन्तु, यदि इतिहास द्वेषपूर्ण हों और भूतकालीन समाज के चित्र को यथोचित रीति से प्रदर्शित न करते हों, तो उनके अध्ययन से कोई लाभ नहीं।

स्कूलों में जो इतिहास की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, उनमें या तो पक्षपात भरा रहता है, अथवा द्वेष की मात्रा अधिक रहती है। हिन्दुस्तानियों ने समय-समय पर जो वीरोचित अथवा आत्मत्याग

के आदर्श उदाहरण दिये हैं, उनका उल्लेख न करना द्वेष नहीं तो क्या है ?

मारवाड़ में एक कहावत है कि 'माता पूत ऐसा जन, जैसा दुर्गादास।' दुर्गादास की स्वामिभक्ति, आत्मत्याग और वीरता की गाथा इतने ऊँचे दर्जे की है कि उसको पढ़कर केवल आत्म-गौरव ही नहीं होता ; बल्कि हमारे आचरणों पर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है ।

इसी प्रकार जब महाराणा प्रताप आपत्ति में थे, तब उनके पुराने मंत्री भामाशाह ने अपने पूर्व-पुरुषों की कमाई हुई सारी सम्पत्ति उन्हें समर्पित कर दी थी । भामा का यह एक ऐसा स्वर्णकार्य है, जिसकी तुलना के लिये संसार के इतिहास में बहुत कम उदाहरण मिलेंगे ।

'नाना फड़नवीस' या 'रामजी शास्त्री' या 'तन्नाजीराव मलसरे' महाराष्ट्र के इतिहास में आदर्श-चरित्र हुए हैं । मलसरे जब मारे गये, तब शिवाजी ने बड़े मार्मिक वचन कहे थे—'गढ़ आला, पँण सिंह गेला' अर्थात् किला तो जीत लिया ; परन्तु अपना सिंह खो दिया । रामशास्त्री, पेशवा-दरबार के शास्त्री थे ; शास्त्र के अनुसार अपना मत प्रदर्शित करना उनका धर्म था । जब रघुनाथराव पेशवा ने नारायणराव की हत्या की और उसके आसन पर बैठ गया, तब उसने शास्त्रीजी से धर्म-व्यवस्था पूछी । शास्त्रीजी उसके नौकर थे । उसी के द्वारा उनकी रोटी चलती थी । उन पर हर तरह का दबाव डाला गया ; परन्तु वे अपने धर्म से च्युत न हुए । उन्होंने यही व्यवस्था दी कि नारायणराव की हत्या का प्राय-श्चित्त केवल यही है कि रघुनाथराव अपने प्राण दें । वास्तव में यह निर्भीकता का एक जागृत्यमान उदाहरण है ।

इस प्रकार की सैकड़ों वीर-गाथाएँ हमारे देश के इतिहास में मिल सकती हैं ; परन्तु अभाग्यवश हमारे स्कूल के इतिहासों में इनका उल्लेख तक नहीं आता । उनमें जो कुछ दिया रहता है, उसका सार यही निकलता है कि हमारे देशवासी हमेशा लात खाते रहे और जहाँ देखो तहाँ स्वार्थ-

परायणता से ही परिपूर्ण रहे। जैसा एक उर्दू की पुस्तक में दुःख-भरी भाषा में लिखा था—

‘बागवाँ आया इस गुलशन में, कि सय्याद आया।

कोई आया, मेरे जी का जल्लाद आया ॥’

इस प्रकार का इतिहास पढ़ने से मनुष्य में हिम्मत नहीं रहती, उसका दिल टूट जाता है, वह मन में कहने लगता है कि ‘पूरब जाओ या पच्छिम, यही करम के लच्छन !’ हमारी तकदीर में तो मार खाना ही बदा है, हम कर ही क्या सकते हैं।

गत सात-आठ सौ वर्षों का इतिहास दुःखमय अवश्य है; परन्तु फिर भी जिस प्रकार रात्रि के समय घने काले बादलों में बिजली के चमकने से आँखें चौंधिया जाती हैं, उसी प्रकार इस घोर अन्धकार-रूपी इतिहास में भी वीरता, आत्मत्याग, स्वाभिमान, दूरदर्शिता आदि के ऐसे ज्वलन्त उदाहरण मिलते हैं कि उन्हें देखकर आँखें चौंधिया जाती हैं। जिस इतिहास में उनका उल्लेख नहीं, वह इतिहास होली जलाने लायक है।

इतिहास पढ़ने से तभी लाभ होगा, जब हमारे देश का समय-समय का सच्चा चित्र दिया जाय। देश-प्रीति जाग्रत अवश्य की जाय; परन्तु साथ ही इस बात का भी ध्यान रहे कि जो कुछ कहा जावे, वह सर्वथा सत्य हो। यदि इतिहास के अध्ययन से वास्तविक लाभ उठाना है, तो यह भी आवश्यक है कि जिन कमजोरियों के कारण यहाँ के निवासियों को अनेक दुख उठाने पड़े हैं, उनका विवरण भी अवश्य दिया जाय; तभी भविष्य में हम उन कमजोरियों से बचने की चेष्टा कर सकेंगे।

हिन्दुस्तान का यथार्थ इतिहास कभी कभी कड़वी दवा के समान हो जाता है, जिसे पिये बिना तन की तपन नहीं जाती। फोड़ा चीरने के लिये जब डाक्टर औज़ार उठाता है, तब मरीज़ को वह दुःश्मन मालूम होने लगता है। डाक्टर के औज़ार के उपयोग से कभी-कभी असह्य पीड़ा

भी होती है ; परन्तु उसके यथोचित उपयोग से अन्त में शरीर को लाभ ही होता है ।

देश का सच्चा इतिहास डाक्टर के नदतर के समान है । जो मन को पक्का करके उसके कड़वे उपदेश को पी लेगा, उसको अवश्य लाभ होगा ।

इतिहास के अध्ययन से होनेवाले लाभों का पूरा वर्णन करने के लिये एक पूरी पुस्तक की आवश्यकता होगी । यहाँ उनका पूरा विवरण देना असम्भव है । तो भी दो-चार उदाहरण देना आवश्यक है ।

मुगल-साम्राज्य में यह निश्चित नहीं था कि राज्य का उत्तराधिकारी किसे होना चाहिये । इसलिये प्रत्येक मुगल-सम्राट् के देहान्त के पश्चात् उसके लड़कों में युद्ध हुआ करता था । इन्हीं गृह-युद्धों के कारण अन्त में मुगल-साम्राज्य का नाश हुआ । इससे उपदेश यह मिलता है कि राज्य का उत्तराधिकारी बनाने या चुनने के लिये एक दृढ़ नियम होना चाहिये । किसके बाद किसका हक है ; यह निश्चय होने पर जनता को केवल न्याययुक्त अधिकारी की ही सहायता करनी चाहिये, किसी दूसरे उम्मेदवार की नहीं, चाहे वह कितना ही लोकप्रिय हो ।

हिन्दू-राज्यों में इस प्रकार के गृह-युद्ध बहुत कम सुनने में आये हैं । इसका कारण केवल यह है कि हिन्दू-समाज ने यह निश्चय कर लिया था कि बड़े बेटे का पहला हक है, उसके बाद दूसरे का । फिर भी हिन्दू-राज्यों में एक राजा की कई रानियाँ होने के कारण गृह-कलह होते ही रहे हैं और ऐसे ही कलहों के कारण राज्य का नाश और प्रजा को दुःख हुआ है । न राजा दशरथ तीन विवाह करते, न रामचन्द्रजी को वन जाने की आवश्यकता पड़ती । इससे उपदेश यह मिलता है कि राजाओं को भी एकपत्नीव्रत होना चाहिये ; और जो इस व्रत का पालन करने में असमर्थ हों, वे गद्दी छोड़ देने की दया करें ।

पहले कह आये हैं कि ऊँच-नीच के भाव प्रबल होने के कारण हिन्दू-

समाज कभी सुगठित न हो सका और इसी कारण एक राज्य के उपरान्त दूसरे राज्य विदेशियों द्वारा नष्ट हुए। सूरशाह सूर के उपरान्त हेमू बनिया, जो दिल्ली के आसपास का रहनेवाला था, धीरे-धीरे अपना बल बढ़ाता गया और अन्त में उसने मुसलमानी बादशाहत को गिराने का संकल्प किया। हेमू विलक्षण बुद्धि का एक वीर पुरुष था। यदि उसे अन्य हिन्दू जातियों की मदद मिलती तो वह पठानों को देश से निकाल देता और मुगलों का भी पाया न जमने देता। उसने अपनी योग्यता से दिखला दिया कि हिन्दुस्तान में फिर से हिन्दुओं का साम्राज्य स्थापित करने की उसमें काफी शक्ति थी; परन्तु बेचारा जाति का बनिया था, इसलिये क्षत्रिय राजाओं ने 'बनिया-बकाल' का प्रधानत्व स्वीकार न किया और मदद भी न दी, जिससे अन्त में वह बैरमख़ाँ के हाथों मारा गया।

बलिहारी है हिन्दू-जातियों की बुद्धि की! मुगलों और पठानों की गुलामी करने को तो तैयार; परन्तु एक हिन्दू बनिये की अधीनता स्वीकार नहीं!

मान लिया जाय कि हेमू बनिया बादशाह हो जाता, तो इससे क्या! वह था तो अपना ही आदमी! उससे हिन्दू प्रजा का दुःख घटता या बढ़ता? मुगलों या पठानों के अधीनस्थ होने की अपेक्षा हेमू की बादशाहत कहीं अधिक सुखमय होती।

पानीपत की लड़ाई के समय हम क्या दृश्य देखते हैं? एक तरफ़ तो अहमदशाह दुर्गानी-सरीखा वीर और निर्भीक नेता, फिर से भारत में अफ़ग़ानों का राज्य जमाने के लिये, संगठित सेना लेकर, मैदान में ढटा है और दूसरी तरफ़ मरहठी सेना के सरदारों में भेद-भाव का प्रभाव बढ़ रहा है, जिसके कारण दो-तीन लाख वीर मराठे सैनिक बेकाम हो रहे हैं। एक सरदार को ताना दिया गया कि वह जाति का गढ़रिया है—युद्ध-नीति क्या समझे; दूसरे को कहा गया कि वह तो जूता-बरदार है जाटों के ऊपर कटाक्ष करके सूरजमल का मन खटा कर दिया गया।

इस प्रकार तीन अच्छे मराठे सरदार सेना-शिविर से अलग हो गये ! केवल सूरजमल और उसके तीन हजार जाट योद्धा ही दुर्गानो की सेना से टकर लेने के लिये काफी थे ; परन्तु आपस की फूट से इस युद्ध में हिन्दुस्तान पर अटल साम्राज्य पाने के बदले मरहठी सत्ता हमेशा के लिये अस्त हो गई और ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के भाग्य का उदय हुआ ।

बँगला भाषा के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलालराय ने 'दुर्गादास' नामक एक उत्तम नाटक लिखा है । उनके चरित्र-चित्रण के अनुसार दुर्गादास ने सारी उम्र इस उद्योग में खर्च की कि सब हिन्दू-राज्य मिलकर मुगल बादशाहत को गिरावें । हिन्दुस्तान के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा वीर ऐसा धीर, निरन्तर उद्योगी, आत्मत्यागी, देश-भक्त तथा स्वजाति-प्रेमी पैदा हुआ हो ; परन्तु तीस-पैंतीस वर्ष के निरन्तर उद्योग के उपरान्त दुर्गादास ने हार मानकर निराशापूर्ण वचन कहे हैं, जिनका सार यह है कि राजपूत राजा मुगलों की पराधीनता तो सह सकते हैं ; परन्तु किसी क्षत्रिय राजा की अधीनता में रहना पसन्द नहीं कर सकते अथवा मरहठों से सहयोग करके एक नहीं हो सकते ।

उक्त नाटक प्रत्येक देश-प्रेमी को अवश्य पढ़ना चाहिये । कारण, उसमें हिन्दू-जाति की एक खास कमज़ोरी बड़ी मार्मिक रीति से प्रदर्शित की गई है ।

मरहठा-साम्राज्य के नाश का कारण भी जातीय भेद भाव है । मरहठा क्षत्रियों के हाथ से सत्ता छीनकर ब्राह्मण जाति के पेशवा, मुख्याधिकारी बन बैठे । इस कारण ब्राह्मणों और मरहठा क्षत्रियों में भेद भाव उत्पन्न हो गया । फिर, पेशवा कोकणस्थ ब्राह्मण थे, इसलिये उनमें और अन्य ब्राह्मणों में द्वेष पैदा हो गया । 'होल्कर' जाति के गड़रिया थे, 'सिन्धिया' कुनबी थे, 'गायकवाड़' और 'भोंसले' क्षत्रिय थे । इन भेद-भावों के कारण मरहठा-शक्ति कभी संगठित न हो सकी । फलतः ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के सामने एक-एक करके उनके सब राज्य गिर गये ।

हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य है कि आपस में झगड़े होने के कारण लोग विदेशियों से मिलकर अपने देश-भाइयों को गिराने में ज़रा भी नहीं सकुचाते ! पृथ्वीराज को गिराने के लिये जयचन्द राठौर ने शहाबुद्दीन मुहम्मदगोरी को बुलाया । अन्हलवाड़ा गुजरात के प्रसिद्ध राजा करण-बाघेलों ने अपने अमात्य माधव पर अत्याचार किया । माधव ने चिद्वर अलाउद्दीन की सहायता ली और गुजरात का हिन्दू-राज्य नष्ट कराया ! इसकी कथा गुजराती भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'करण बाघेलो' में बड़ी हृदय-विदारक रीति से कही गई है, जिसके रचयिता संयुक्त-प्रान्त के प्रसिद्ध सिविलियन श्रीयुत विनायक-शंकर मेहता के स्वर्गवासी पिता पण्डित नन्दलाल मेहता थे । सिराजुद्दौला को गिराने के लिये मीरजाफ़र, अमी-चन्द और रायदुर्लभ खड़े हो गये ! सिक्ख-राज्य को गिराने के लिये सरदार लालसिंह, तेजसिंह और गुलाबसिंह अँगरेज़ों से जा मिले ! मराठी भाषा के प्रसिद्ध लेखक पण्डित नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने 'मराठे आणि इंग्रज' (मरहठे और अँगरेज़) नामक एक पुस्तक लिखी है । यह पुस्तक अनुपम विद्वत्ता के साथ लिखी गई है । इसे प्रत्येक भारतीय भाई को बाँचना चाहिये । इसका अनुवाद हिन्दी में भी हो गया है * । इसमें केलकरजी ने यह बतलाया है कि सारे इतिहास में कहीं ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि ईस्टइण्डिया-कम्पनी के किसी अँगरेज़ एजेण्ट, अफ़सर या सैनिक ने अपने मालिक के साथ दगा किया हो ; परन्तु प्रत्येक देशी राज्य में कोई न-कोई देश-द्रोही ऐसा मिल ही जाता था, जो ईस्टइण्डिया-कम्पनी से मिलकर अपने ही राज्य का घातक बन जाता था ।

जिस देस में आत्म-त्याग, परस्वार्थ और आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा इतनी प्रबल रही है, उसो देश में देशद्रोहियों की संख्या क्यों इतनी अधिक निकलती है ? मेरी समझ में इसका दोष बहुत-कुछ हमारे साहित्य पर है ।

* प्रकाशक—ज्ञानमण्डल-कार्यालय, काशी ।

रावण और विभीषण में झगड़ा हुआ ! यह माना कि रावण ने विभीषण के साथ अन्याय किया ; परन्तु फिर भी उनके घर का झगड़ा था । विभीषण घर का भेदी बनकर श्रीरामचन्द्रजी से जा मिला और अन्त में लंका का दाह करा दिया । हमारे साहित्य में विभीषण को कोई बुरा नहीं कहता, उल्टे उसको भक्तशिरोमणि और आदर्श पुरुष मानते हैं ! श्रीरामचन्द्रजी को उसने सहायता दी थी, इस कारण हिन्दू-समाज उसके दोष को भूल जाता है । पक्षपात-रहित होकर विचार करने से यही सार निकलेगा कि विभीषण ने देशद्रोह किया । यदि उसे हम आदर्श पुरुष मानते हैं, तो देश के इतिहास में विभीषण-ही-विभीषण का दिखाई देना ताज्जुब क्या है ?

इस प्रकार की शिक्षा जिस ऐतिहासिक पुस्तक से मिलती हो, वही लाभकारी हो सकती है । उसके पढ़ने में कड़वे घूँट अवश्य पीने पड़ते हैं ; परन्तु जब तक प्रत्येक विद्यार्थी के मन में इतिहास के कड़वे अनुभव रगड़-रगड़ कर अंकित न कर दिये जायँगे, तब तक इस विषय को पढ़ाने से कोई लाभ न होगा । पाठशालाओं में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकें क्या इस लक्ष्य से लिखी गई हैं ? मुझे तो अभी तक केलकरजी के ग्रन्थ के समान विरले ही ग्रन्थ मिले हैं, जो इस उद्देश्य से लिखे गये हैं ।

हिन्दुस्तान के इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है कि जिस समय शत्रु बलहीन है, उस समय तो हिन्दू राजाओं ने युद्ध गुरू ही नहीं किया ; बल्कि शत्रु को सुसज्जित होने का अवकाश दिया !

ऐसी कथा है कि जब बाबर ने इब्राहीम लोदी को हरा दिया, उसके बाद राणा साँगा ने उससे मुठभेड़ करने की तैयारी की । राणा साँगा बड़ा पराक्रमी राजा था । उसकी वीरता तथा योग्यता में कोई कसर न थी । यदि वह तुरन्त बाबर पर हमला कर देता, तो बाबर की थकी-माँदी सेना सुगमता से तीन-तेरह हो सकती थी और मुगलों का पाया हिन्दुस्तान में न जमने पाता ; परन्तु ज्योतिषियों के कहने पर कि अभी ठीक मुहूर्त्त नहीं निकलता, राणा ने तुरन्त ही हमला नहीं किया । अवकाश मिल

जाने पर बाबर ने अपनी सेना की योजना ठीक कर ली और जब मुहूर्त निकला और राणा साँगा बड़े तब उनकी हार हो गई ।

‘गया वक्त फिर हाथ आता नहीं’—‘समय चूक फिर का पछिताने !’ राणा साँगा मौका चूक गये और हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने का जो समय आया, वह फिर निकल गया ।

इसी प्रकार अनेक बार हिन्दू सेनाओं को इस कारण हार या शिकस्त खानी पड़ी कि जब बिचारे सिपाही चूल्हा फूँक कर भोजन बनाने में लगे रहे, तब शत्रु ने अचानक उनपर हमला कर दिया । सिपाही चौका चूल्हा छोड़कर भूखे पेट बाहर लड़ने आये ; पर संगठित न हो सके ।

यवन-सेना हमेशा ऐसा मौका ताकती रहती थी । सिपाहियों के बनाये भोजन को छीन कर उनका चौका भ्रष्ट कर देती और अपना पेट भर लेती थी । जब क्षात्र धर्म का पालन करना है, तब कहाँ का चूल्हों और कहाँ का मुहूर्त ? ऐसे ही मिथ्या आडम्बरों के कारण हिन्दू-सेनाओं को अनेक बार शिकस्त खानी पड़ी ।

यही देखकर गुरुगोविन्दसिंहजी ने सिक्खों को यह उपदेश दिया कि वे इस प्रकार के व्यर्थ झगड़े में न पड़ें ; बल्कि काम पड़े तो मुसलमानों के बनाये भोजन को भी सुअर की हड्डी के स्पर्श द्वारा पवित्र करके मजे से बना-बनाया भोजन करें ! हिन्दू-जाति की कमज़ोरियों को वे खूब समझ गये थे । इसीलिये सिक्खों को उन्होंने ऐसी दीक्षा दी कि वे सेर के सामने सवा सेर हो गये ।

अभी तक इतिहास के जो ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं, उनमें विशेषकर राजा-महाराजा, नवाब और बादशाहों के युद्धों का वर्णन अधिक रहता है । इस प्रकार के इतिहास को अँगरेज़ी में एनेल्स (Annals) कहते हैं—अर्थात् राजाओं की कथा ; परन्तु यथार्थ में राजा की कथा से प्रजा की कथा भिन्न है । वह इतिहास अधिक लाभकारी होगा, जिसमें प्रजा के सुख-दुःख, आचार-विचार, चित्त-वृत्ति, व्यवहार आदि का वर्णन

हो । नवाब और बादशाहों के जीवन का प्रभाव जनता पर उतना नहीं पड़ता, जितना धर्म-सुधारकों का । कबीर, नानक, तुलसीदास, चैतन्य आदि के उपदेशों का जितना प्रभाव जनता पर पड़ा है, उतना अकबर-सरीखे बादशाह का भी प्रभुत्व नहीं कहा जा सकता ; परन्तु इन बातों का वर्णन इतिहास की पुस्तकों में बहुत कम मिलता है । महाराष्ट्र देश में समर्थ रामदास और तुकाराम के उपदेशों से मरहटों में जागृति हुई । शिवाजी ने उसका उपयोग करके मुगल बादशाहत का पाया हिला दिया । यदि रामदास न पैदा हुए होते, तो शिवाजी कर ही क्या सकते थे ? शायद हो ऐसी कोई पुस्तक हो, जिसमें यह बतलाया गया हो कि प्राचीन समय में किस प्रकार के कारखाने और कला-कौशल इस देश में प्रचलित थे, किस प्रकार के कपड़े बनते थे, लोगों का रहन सहन और उनका आचार-विचार किस प्रकार का था ।

इतिहास को 'सत्य की चेरी' कहते हैं—अर्थात् उसे केवल सत्य को ही ग्रहण करना चाहिये, साथ ही प्रत्येक इतिहासवेत्ता को पूर्ण न्यायी भी होना चाहिये—अर्थात् ऐतिहासिक चरित्र का वर्णन करते समय उसे पक्षपात-रहित होना चाहिये । ऐतिहासिक पात्रों के गुण-दोष की जाँच ठीक-ठीक करनी चाहिये । कई चरित्र तो ऐसे हैं कि उनपर बिना पक्ष-पात या दोष के विचार करना कठिन हो जाता है । अकबर हिन्दुओं में अधिक प्रिय है और औरंगजेब बिल्कुल अप्रिय । इस कारण अकबर के केवल गुण-ही-गुण देखना और औरंगजेब के केवल दोष-ही-दोष बतलाना न्याययुक्त नहीं है । अकबर के चरित्र में दो-एक दोष ऐसे थे, जो औरंगजेब में नहीं थे । अकबर यदि हिन्दुओं से प्रेम करता था, तो उसकी यह प्रवृत्ति एक दृष्टि से 'फिसल पड़े की हरगंगा' थी । पठानों की बादशाहत को गिराकर मुगलों की बादशाहत खड़ी हुई थी, इस कारण पठान लोग मुगलों के विपक्षी थे । मुगलों की संख्या बहुत थोड़ी थी । यदि अकबर राजपूतों की सहायता न लेता, तो उसे भी

हुमायूँ की तरह पश्चिम की यात्रा करनी पड़ती। उसने धार्मिक द्वेष छोड़कर हिन्दुओं की सहायता ली, इससे उसकी बुद्धिमानी झलकती है; परन्तु कोई भी सत्यप्रेमी यह नहीं कह सकता कि हिन्दुओं का आदर करने में उसका स्वार्थ न था।

अब ज़रा औरंगज़ेब की ओर देखें। उसका बड़ा भाई दाराशिकोह उदारचित्त था, उसका हक़ भी अधिक था, हिन्दू राजा उसके सहायक भी थे। औरंगज़ेब के दो बड़े भाई शुज़ा और मुराद बीच में और भी आड़े आते थे। औरंगज़ेब का हक़ सबसे कम था, उसके लिये राज्य पाने का एक ही मार्ग था—वह यह कि कट्टर मुसलमान बने और इस तरह मुसलमानों की सहायता प्राप्त कर सके। यदि हिन्दुओं से द्वेष न करता, तो कट्टर मुसलमानों तथा मुल्लाओं की मदद कैसे पाता।

इस प्रकार, ऐतिहासिक चरित्रों पर सब पहलुओं से विचार कर जो कुछ न्याययुक्त निर्णय देखे, वही देना चाहिये।

कई चरित्र ऐसे मिलते हैं, जो अप्रिय मालूम होते हैं। परन्तु, यदि दूरदर्शिता की दृष्टि से देखा जाय, तो वे देश के लिये एक प्रकार से कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिये लार्ड कर्जन का चरित्र ले लिया जाय। शायद ही कोई हिन्दुस्तानी ऐसा मिले, जो उसके बारे में दो अच्छे शब्द भी कहने को तैयार हो। परन्तु, यदि बारीकी से देखा जाय तो विदित होगा कि न लार्ड कर्जन आता, न इस देश के निवासियों में जागृति होती। वह इस देश में प्रजातन्त्र-प्रणाली को अवकाश देने के बिल्कुल विरुद्ध था। सदा उसकी चेष्टा यही रही कि नौकरशाही का प्रभाव पूरा बना रहे। अतएव उसकी राजनीति लोगों को ऐसी कड़वी लगी कि लोग खलबला उठे। फलतः उसके जाने के पचीस वर्ष के भीतर ही आज ऐसा समय दीख रहा है कि नौकरशाही का मानों शीघ्र ही अन्त होगा और प्रजा के हाथों में प्रायः सारी सत्ता आ जायगी। न कर्जन कड़वे धूँट पिलाता, न वह बंग-देश का विच्छेद करता, न हिन्दुस्तानी

लोग अपनी गाढ़ी नींद से उठते । कर्जन को लोग बुरा भले ही समझें ; परन्तु यथार्थ में इस दृष्टि से तो वह हितकारी हो गया है ।

इतिहास के विद्यार्थियों को प्रत्येक चरित्र का अध्ययन सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिये ।

इतिहास के पढ़ने के समय अनेक ऐतिहासिक व्यक्ति या जातियाँ विद्यार्थियों को अप्रिय हो जाती हैं । कभी-कभी इस चित्तवृत्ति का यह प्रभाव होता है कि मन उनके गुण देखने में असमर्थ हो जाता है ; परन्तु यदि शुद्ध चित्त से इस विषय का अध्ययन किया जाय, तो यह आवश्यक है कि उन लोगों तथा जातियों के भी जो गुण दीख पड़ें वे नोट किये जावें । कारण, विपक्षियों के गुण देखने से अपनी जाति के दोष निकालने और उन्हें दूर करने के योग्य हम हो सकते हैं । औरंगज़ेब, महमूद गज़नवी, अलाउद्दीन आदि हिन्दुओं को स्वभावतः प्रिय नहीं हो सकते । परन्तु, यदि उनमें कुछ न कुछ गुण न होते, तो संसार-समर में वे कदाचित् सफल न होते । उनके गुणों को ढूँढ़ना भी उतना ही आवश्यक है, जितना उनका छिद्रान्वेषण । मुसलमान-जातियों ने यदि हिन्दू जातियों को परास्त किया, तो यह पता लगाना इतिहास-प्रेमी का धर्म है कि उस धर्म के अनुयायियों में कौन-से ऐसे गुण थे जिनके कारण वे सफलता प्राप्त कर सके । अवलोकन से ज्ञात होगा कि उस धर्म में ऐसी शक्ति है कि उसका पालन करनेवाले को एकदम उच्चासन मिल जाता है, वह बादशाह का हम क़ौम होने का दावा करने लगता है ।

कुतुबुद्दीन पहले गुलाम था ; परन्तु इस्लाम धर्म को मानने के कारण उसे बादशाह बनने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी । यह धर्म प्रत्येक मुसलमान से योद्धा बनने का आग्रह करता है । यही कारण है कि काम पढ़ने पर कोई भी मुसलमान सिपाही हो सकता है । इन लोगों में खाने-पीने, विवाह आदि के झगड़े बहुत कम हैं । इस कारण, कोई मुसलमान चाहे कहीं भी जावे, वह सुख से रह सकता है । उसको यह भी फ़िक्र

नहीं कि मरने पर लाश कौन उठाएगा। किसी भी मुसलमान का हाथ लग जाने से उसकी अन्तिम क्रिया ठीक हो जाती है। नमाज़ के समय बादशाह से लेकर उनिया-धुनिया तक एक साथ भ्रातृ-भाव से नमाज़ पढ़ते हैं। इन लोगों में इस प्रकार का सामाजिक और धार्मिक भ्रातृ-भाव है।

ऐसी जाति से काम पड़ा हिन्दू जाति को, जिसने युद्ध करने का कार्य एक विशेष जाति पर—अर्थात् क्षत्रियों पर—छोड़ दिया, जिनकी संख्या संयुक्तप्रान्त तथा राजपुताने में फी सदी आठ या नौ से अधिक नहीं है ! उनमें भी ऊँच नीच का भेद-भाव इतना प्रबल है कि खान-पान, शादी-विवाह, स्वतन्त्रता से नहीं हो सकता। आल्हाखण्ड में एक जगह कहा है—

‘एक न जड़ओ नगर महोबे। जहाँ पर बसे बनाफर राय।

ओछी जाति बनाफर की है। तिन्ह संग ब्याह करन के नाहि॥’

मुसलमानों के आने से पहले उत्तरी हिन्दुस्तान में इसी प्रकार का द्वन्द्व क्षत्रियों में चल रहा था। कुछ क्षत्रियों की आन था कि हम बुन्देले-सरावे ओछी जाति के क्षत्रियों को अपनी बेटी न देंगे, और वहाँ महोबे के आल्हा तथा ऊदल ने यही ठान ली थी कि हम उनकी बेटियाँ जबरदस्ती लेकर अपने लोगों से ब्याहेंगे। नतीजा यह होता था कि जहाँ एक की शादी होती, वहाँ खूब तलवार चलती और सैकड़ों या हज़ारों विधवाएँ हो जातीं।

इस प्रकार परस्पर लड़ते-लड़ते क्षत्रियों की वीर जाति आपस ही में कट मरी। जब मुसलमानों और पठानों का हमला शुरू हुआ, तब तक तो क्षत्रिय लोग मर-मिट चुके थे ! ऐसी दशा में यदि हिन्दू-जाति मुसलमानों से हारी, तो उसे प्रारब्ध का दोष कहें या अपनी ही हरकतों का नतीजा ?

अनेक ठोकरें खाने पर भी, मुसलमानों की संगठित शक्ति का मुका-

बिला करने के लिये, न तो क्षत्रियों ही में संगठन हुआ, न हिन्दुओं की अन्य बलाढ्य जातियों का सहारा लिया गया। उत्तरी हिन्दुस्तान में अनेक जातियाँ थीं और अब भी हैं, जिनको अगर सैनिक शिक्षण मिलता, तो हिन्दू-राजाओं को बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी।

अँगरेजों ने अपनी सेना में जाट, गूजर, अहीर, संयुक्त-प्रान्तीय ब्राह्मण, गढ़वाली डोगरों आदि का उपयोग किया और उन्हीं की मदद से देशी राज्यों को हराया। ग़द्दर के समय ईस्टइण्डिया कम्पनी की कुल सेना प्रायः तीन लाख के करीब थी। उसमें गोरों की संख्या चालीस-बयालीस हजार से अधिक नहीं थी। देशी सेना में आगरा और अवध प्रान्त के सैनिक भरे थे। अनेक अँगरेजो इतिहास लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि इन जातियों की सेना—जिसमें क्षत्रिय भी थे—एक आदर्श सेना थी और उसी के सहारे कम्पनी-सरकार ने मराठों, सिक्खों, अफ़ग़ानों, बर्मियों, पिण्डारियों आदि को हराया। यदि एक विदेशी सरकार इन लड़ाका जातियों का अच्छा उपयोग कर सकती थी, तो क्या हिन्दू राजा लोग अपनी कठिनाई के समय इन जातियों की सहायता नहीं ले सकते थे ?

इतिहास सीखने वालों को ऐतिहासिक घटनाओं का अर्थ कुशाग्र बुद्धि से निकालना चाहिये—विशेषकर हमारे पुराने ग्रन्थों में दी हुई घटनाओं का ; क्योंकि उनमें गूढ़ राजनीति भरी है। उदाहरण के लिये महाभारत की कथा ले लीजिए। पाण्डव पाँच भाई थे ; पर वे एक-दिल थे, उनके नेता धर्मराज युधिष्ठिर थे। कौरव सौ भाई थे, उनका लीडर था धृतराज दुर्योधन ! उसके सौ भाई थे, इसका अर्थ यह भी निकलता है कि धूर्त लोगों को अनेक सहायक मिल जाते हैं और धर्मात्मा मनुष्य को बहुत थोड़े। युधिष्ठिर का चरित्र आदर्श था। परन्तु, यदि महाभारत का युद्ध उनके भरोसे होता, तो वे सफलता न पा सकते। इसलिये कथा में यह बतलाया गया है कि धर्मराज के साथ भीम-सरीखे बलवान सहायक थे ; परन्तु भीम में बुद्धि अधिक नहीं थी—वे अग्रगोची नहीं थे ; इस

लिये केवल उन्हीं की सहायता से धर्मराज का सफलता प्राप्त करना कठिन था । अर्जुन में रणकुशलता और एकाग्रचित्तता पूरी थी । नकुल और सहदेव सहयोगपूर्वक आज्ञापालन में तत्पर रहते थे ; परन्तु इतने पर भी शायद पाण्डव लोग सफल न होते । जब उनको श्रीकृष्णजी सरीखे राजनीति कुशल और विलक्षणबुद्धि मन्त्री मिले, तब विजय प्राप्त हुई ।

कथा का सार यह निकलता है कि हमारा पक्ष न्याययुक्त होने के कारण हमें सफलता अवश्य मिलेगी, ऐसा विश्वास ठीक नहीं । धर्मराज की सहायता के लिये शारीरिक बल, रणचातुर्य, आत्म-त्यागी सहायकों तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी-सरीखे अलौकिक महापुरुष की बुद्धि की भी आवश्यकता है । तभी धर्म की जय होगी, और साथ ही साथ उद्योग-पर्व भी ढीला न पड़ना चाहिये ।

महाभारत की कथा पर मनन करने से उन लोगों का भ्रम दूर हो जायगा, जो यह समझते हैं कि हम तो निर्दोष हैं, ईश्वर हमारी सहायता करेगा । ईश्वर अरुमर्ग्यों की सहायता नहीं करता । जो भाग्य के भरोसे बैठे रहेंगे, वे जीवन-संग्राम में कभी सफल नहीं हो सकते ।

इस तरह के अनेक लाभकारी अनुभव हम लोगों को, इतिहास के अध्ययन से, प्राप्त हो सकते हैं । शर्त यह है कि इतिहास की पुस्तकें हमारे पूर्वजों के अनुभव का ज्ञान देने के लिये लिखी जायँ और पाठकगण उन पर विचार करें तथा भविष्य के लिये चैतन्य हो जायँ ।

इस अध्याय में कुछ थोड़े-से अनुभवों का उल्लेख कर दिया गया है । इतिहास के दिये हुए ज्ञान को पूर्ण रूप से दिखलाने के लिये तो एक बड़ी पुस्तक की आवश्यकता होगी ।



भूगोल सिखाने का अभिप्राय

जनता-प्रणाली का प्रभाव बढ़ने के कारण भूगोल सिखाने का महत्त्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जाता है। पिछले यूरोपीय महायुद्ध के बाद तो इसका महत्त्व पश्चिमीय देशों में इतना बढ़ गया है कि इसका अध्ययन अब शिक्षा का एक मुख्य एवं उत्तम अंग माना जाता है। इसका क्या कारण है ? क्या इस देश के निवासियों को भी इस विषय का अध्ययन उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार अन्य देशों में किया जाता है ?

यदि भूगोल का यह अर्थ हो कि द्वीप, महाद्वीप, अन्तरीप, समुद्र, खाड़ी, मुहाने आदि के नाम याद कर लिये जायँ, तो इस विषय के पढ़ाने से कोई लाभ नहीं। केवल बालकों की स्मरण-शक्ति पर व्यर्थ का एक बोझ पड़ जाता है। आजकल भूगोल का अर्थ कुछ दूसरा ही है। नवीन प्रणाली द्वारा भूगोल पढ़ने से बालकों में नागरिक बुद्धि बहुत-कुछ प्रबल हो सकती है।

आधुनिक भूगोल की गणना अब विज्ञानों में की जाती है। जिस प्रकार सायन्स का महत्त्व दिन-दिन बढ़ता जाता है, उसी प्रकार भूगोल का भी महत्त्व बढ़ रहा है। धरातल पर स्वाभाविक रूप से पहाड़, समुद्र, घाटियाँ आदि पाई जाती हैं। पवन का आवागमन अक्षांश पर निर्भर है। नक्शे में किसी देश की स्थिति देखने पर उस देश की आब-

हवा का अन्दाज हो जाता है। गर्मी, सर्दी और वर्षा के भी आधार पर उस देश की उपज अवलम्बित है। ईश्वर ने पाँचों उँगली एक-सी नहीं बनाई; इसी प्रकार कोई दो प्रान्त ऐसे नहीं हैं, जहाँ की आब-हवा बिल्कुल एक सी हो; कुछ-न कुछ अन्तर अवश्य हो जाता है, और जलवायु में अन्तर होने ही से वहाँ की उपज में परिवर्तन हो जाता है।

सार यह है कि भूगोल का ज्ञान अब वैज्ञानिक रीति से संगठित करके दिया जाता है। कोई भी बात अनायास नहीं मान ली जाती। उदाहरण के लिये, उत्तरा हिन्दुस्तान बास और तीस अक्षांश में स्थित है। इन अक्षांशों के बीच में स्थित देश प्रायः दुनिया-भर में मरुस्थल होते हैं; परन्तु हिन्दुस्तान के उत्तर में हिमालय-पर्वत स्थित होने के कारण यह भाग मरुस्थल होने के बदले अत्यन्त उपजाऊ और धन धान्यपरिपूरित देश हो गया है। यदि उत्तर में हिमालय-पर्वत न होता, तो अरब, ईराक, ईरान, मिस्र आदि सुसलमानी देशों के समान उत्तर-हिन्दुस्तान भी मरुस्थल ही होता। जो चौदह-पन्द्रह करोड़ मनुष्य यहाँ बसे हुए हैं, उनको भागकर अन्य देशों में जाना पड़ता। हिमालय ही के कारण गंगा, यमुना, सतलज, सिन्ध आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ इस भाग में से बही हैं। इन नदियों के बिना यह देश आधा मरुस्थल बना रहता। वास्तव में उत्तर हिन्दुस्तान के लोगों का जीवन हिमालय-पर्वत और उससे निकली हुई नदियों पर अवलम्बित है। यही कारण है कि इस देश में हिमालय-पर्वत और उसमें से निकली हुई नदियाँ पवित्र मानी जाती हैं। न वे नदियाँ होतीं, न हम लोगों को पेट-भर खाने को मिलता। अन्य-देश-वासी इस बात पर भले ही हँसें कि हिन्दू लोग नदी-पर्वत तक को पूजते हैं; परन्तु जो भूगोल के सिद्धान्तों को समझता है, वह यही कहेगा कि हिन्दुस्तानियों के लिए हिमालय-पर्वत और गंगा-यमुना आदि नदियों को इतना मान देना सर्वथा स्वाभाविक है; क्योंकि इनके बिना उनका कहीं ठिकाना न था।

जैसी भक्ति से हम लोग नदियों तथा पर्वतों को देखते हैं, अगर वैसी नहीं तो थोड़ी-बहुत भक्ति अँगरेज-जाति भी समुद्र पर दिखलाती है। कारण, अँगरेजों की जीविका विशेषकर समुद्र के द्वारा ही चलती है। इंग्लैण्ड में खाने का सामान बहुत कम पैदा हो सकता है। वहाँ के लोगों का पेट तभी भरेगा, जब समुद्रपार से खाने का सामान आएगा।

हालैण्डवालों ने समुद्र से लड़-भिड़कर और डाइक बनाकर ज़मीन छुड़ाई है—उनका निरन्तर उद्योग यह रहता है कि डाइक बढ़ाकर अधिक ज़मीन समुद्र से छीनें—डाइक की मरम्मत और निगरानी में तथा समुद्र का पानी पम्प करके बाहर निकालने में ही उनका बहुत-कुछ समय बीतता है; इस कारण वे स्वभावतः उद्योगी हो गये हैं।

हिन्दुस्तान के निवासी यदि पर्वत और नदियों को मान देते हैं, अँगरेज लोग यदि समुद्र की महिमा गाते हैं और हालैण्ड-निवासी यदि उद्योग को महत्व देते हैं, तो इसका कारण भौगोलिक परिस्थिति है।

भूगोल के अध्ययन से भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों की जीवन-प्रणाली हमारी समझ में आ जाती है और हम व्यर्थ का उपहास छोड़कर अपने मन में मनुष्य-जाति के प्रति सहानुभूति रखने में प्रवृत्त होते हैं।

बंगाली लोग मछली और भात से बहुत प्रेम करते हैं। संयुक्तप्रान्त के निवासी सत्तू के प्रेमी होते हैं। मारवाड़ के बारे में कहावत है कि “आकरा पातरा फोकरा बार; बाजरारी रोटी मोठरारी दार, देखिय राजा थारी मारवार।”—अर्थात् बाजरे की रोटी, मोठ की दाल, अकौए के पत्ते और बबूल की बाड़ी—हे राजा, तुम्हारा मारवाड़ देख लिया; अर्थात् इसके सिवा तुम्हारे देश में और कोई चीज़ पैदा नहीं होती।

जिस देश में जो चीज़ मिल सकती है, उसी पर वहाँ के निवासियों को अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। बंगाल की आब-हवा ऐसी है कि वहाँ विशेषकर धान पैदा होता है। गंगा और ब्रह्मपुत्र की अनेक धाराएँ होने के कारण मछलियाँ भी बहुतायत से मिल सकती हैं। ऐसी

स्थिति में यदि वहाँ के निवासी मछली और भात के विशेष प्रेमी हों, तो ताज्जुब क्या है ? वहाँ की आब-हवा ही ऐसी है कि सन और नील बहुतायत से उत्पन्न हो सकते हैं, इस कारण उन्हीं के कारखानों का वहाँ आधिक्य है। यही स्वाभाविक भी है। जर्मनी में बनी हुई नकली नील की बिक्री के कारण नील की पैदावार अब बैठ गई है। इस कारण, बंगाल में केवल दो मुख्य व्यवसाय रह गए हैं—अर्थात् धान और सन की उपज तथा उसके कारखाने। नदियाँ अधिक होने से बंगाली लोग जलयात्रा अधिक करते हैं, और इसी कारण वहाँ के मल्लाह नाविक-विद्या में चतुर निकलते हैं।

उत्तर हिन्दुस्तान की आब-हवा गेहूँ उत्पन्न करने के लिये विशेष उपयुक्त है। इस कारण यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन गेहूँ है। चना और जौ भी यहाँ बहुतायत से पैदा होता है। यहाँ के निवासी यदि सत्तू के प्रेमी हों, तो उस पर हँसने की कोई बात नहीं।

मारवाड़ में न गेहूँ उत्पन्न हो सकता है, न उड़द, न मूँग, न अरहर। वहाँ वर्षा इतनी कम होती है कि कुछ बाजरा और कुछ मोठ तथा बबूल के पेड़ ही पैदा हो सकते हैं। वहाँ के निवासी इन्हीं से अपना काम चलाते हैं।

अरब भी मारवाड़ के समान ही मरुस्थल है ; परन्तु कहीं-कहीं समुद्र का तट निकट होने से खजूर बहुतायत से पैदा होते हैं। इस कारण वहाँ का मेवा खजूर ही है।

ग्रीनलैण्ड और आइसलैण्ड के निवासी पानी नहीं पीते, चरबी पिघलाकर पीते हैं और केवल मांस भोजन करते हैं। उनके देश में सर्दी के कारण कुछ भी अन्न नहीं उपजता। अतः जो मिलता है, उसी पर अपना गुजारा चलाते हैं। नहाना धोना उनके लिये असम्भव है।

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न देशों के मनुष्यों का जीवन बहुत-कुछ वहाँ की परिस्थिति पर अवलम्बित है।

यदि कला-कौशल और व्यापार की दृष्टि से देखें, तो भी निश्चय होता है कि परिस्थिति का प्रभाव व्यापक है। कलकत्ते में सन के कारखाने बहुत-से हैं। इसका कारण यह है कि आसपास के देश में बहुतायत से सन पैदा होता है। सन के कारखाने चलाने के लिये कोयला चाहिए, वह भी पास ही मिलता है; और नदी का किनारा चाहिये, सो भी कलकत्ते के आसपास सुगमता से मिल सकता है; मिहनती और बलवान मज़दूर चाहिए—वे बिहार और संयुक्तप्रान्त से सुगमतापूर्वक मिल जाते हैं। इन कारणों से कलकत्ता सन के कारखानों का केन्द्र हो गया है।

बम्बई, अहमदाबाद, सूरत आदि स्थान कपास के कारखानों के लिये उर्वर क्षेत्र हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि वे कपास पैदा करनेवाले प्रान्तों के निकट हैं, कोयला भी मध्यप्रदेश से सुगमता से मिल सकता है, और समुद्र-तट के निकट होने से हवा में शीतलता तथा आर्द्रता रहती है। आर्द्रता रहने से कपास से पतला और महीन सूत निकलता है; सूखा आब-हवा होने से धागा टूट जाता है। दक्षिण के पहाड़ी देशों से मिहनती मज़दूर भी सुगमता से मिल जाते हैं। इसी कारण ये स्थान सूती कारखानों के केन्द्र हो गए हैं।

इस प्रकार तर्क करने से भूगोलवेत्ता यह तुरन्त समझ सकता है कि किस प्रकार के कारखाने कहाँ सुगमता से और सफलतापूर्वक चलाये जा सकते हैं।

यदि उदाहरण के लिये संयुक्तप्रान्त लिया जाय, तो देखते हैं कि इसमें न कोई निकटवर्ती खनिज पदार्थ मिलते हैं, न आब हवा तर है, न समुद्र-तट ही है, सन या कपास भी बहुत कम क्षेत्र में उत्पन्न हो सकती है। इस कारण यह सन या कपास के कारखानों का बड़ा क्षेत्र नहीं हो सकता है। यहाँ वर्षा भी अधिक नहीं होती, इस कारण तराई के कुछ जिलों को छोड़कर धान की खेती भी कम होती है। अलबत्ता: वर्षा इतनी होती है कि कुछ भागों में उत्तम प्रकार का गन्ना पैदा किया जा सके।

इस कारण इस प्रदेश में शक्कर बनाने के कारखाने अधिक हो सकते हैं। यथार्थ में किसी समय यह प्रान्त शक्कर के कारखानों के लिये प्रसिद्ध था। मिर्ज़ापुर, बनारस, शाहजहाँपुर, कानपुर आदि अनेक केन्द्र थे, जहाँ लाखों मन खाँड़ तैयार होती और दूर-दूर तक भेजी जाती थी। यहाँ की खाँड़ की बिक्री जाय की शक्कर के कारण अब कम हो गई है। फिर भी मौका मिलने पर यह प्रदेश इस व्यवसाय में उन्नति कर सकता है। गन्ने के छिलकों का संग्रह करके कागज बनाने का उद्योग किया जाय, तो कागज बनाने के कारखाने भी बढ़ सकते हैं। यद्यपि इस प्रदेश में कोयला सुगमता से नहीं आ सकता, तथापि हिमालय से निकलनेवाली बहुत-सी नदियाँ आठ-दस हजार फीट की ऊँचाई से निकल कर और नौ सौ मील का मार्ग तय कर गंगा-यमुना के मैदान में पहुँचती हैं, जिनकी धारा की प्रखरता के कारण बिजली की शक्ति बहुत कुछ पैदा की जा सकती है और इस शक्ति के द्वारा कारखाने भी चलाये जा सकते हैं। फिर भी संयुक्तप्रान्त कृषि-प्रधान प्रान्त ही रहेगा। गेहूँ एक ऊँची जाति की घास है, इस कारण गेहूँ का प्रदेश ढोरों के लिये—विशेष कर घोड़ों के लिये—अधिक उपयुक्त होता है। इसलिये इस प्रदेश में ढोर और घोड़े पालने में अधिक लाभ हो सकता है। जिस प्रकार बंगाल के नाविक चतुर हैं, उसी तरह यहाँ के घुड़सवार प्रसिद्ध हैं।

सार यह कि भूगोल-विद्या के अध्ययन से विद्यार्थी को यह ज्ञात होने लगता है कि किस प्रान्त में किस प्रकार की उन्नति हो सकती है और किस प्रकार की उन्नति असम्भव है। भूगोल के अध्ययन से राजनीतिक प्रश्नों के समझने में भी सुगमता होती है और उन्हें हल करने के लिये यह आवश्यक है कि जनता को भूगोल के सिद्धान्त विदित हों। केवल दो उदाहरण बतलाकर इसके अध्ययन की आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जायगा—एक तो सिन्ध का प्रश्न, दूसरा ब्रह्मा का। ये दोनों प्रश्न आजकल इस देश के निवासियों के लिये कठिन समस्या से हो गए हैं।

सिन्ध-प्रदेश इस समय बम्बई अहाते के अन्तर्गत है ; परन्तु उसका कोई भी भौगोलिक सम्बन्ध शेष बम्बई अहाते से नहीं है। सिन्ध-निवासी यह चाहते हैं कि हमारा सम्बन्ध बम्बई अहाते से तोड़ दिया जाय। वहाँ की जनसंख्या तीन-चौथाई मुसलमानों की है, जो बहुधा किसान, जमींदार या कुली-कवाड़ी हैं—और एक चौथाई हिन्दू हैं जो शिक्षित हैं और व्यापार आदि करते हैं। वे लोग अपना व्यापार ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान आदि दूर देशों में फैलाये हुए हैं। मुसलमान लोग यह चाहते हैं कि सिन्ध एक छोटा सा प्रदेश बना दिया जाय, जिसमें हर तरह से मुसलमानों की प्रधानता रहे। हिन्दू लोग यह नहीं चाहते कि सिन्ध अलग प्रदेश हो : उनको भय है कि छोटा-सा प्रदेश होने पर शासन-व्यय बहुत बढ़ेगा और उसका भार विशेषतः उद्योगी हिन्दू व्यापारियों तथा शिक्षित मनुष्यों पर पड़ेगा ; क्योंकि सिन्ध का धन विशेषकर हिन्दुओं के पास है, मुसलमान बहुत गरीब हैं। दोनों पक्षवाले इस प्रश्न का निर्णय अपने-अपने समुदाय की दृष्टि से करना चाहते हैं। परन्तु, यदि इस दृष्टि से प्रश्न का निर्णय किया जायगा, तो दोनों पक्षों की हानि होगी और वह प्रदेश कभी पनपने न पाएगा।

अब यदि इस प्रश्न को भौगोलिक दृष्टि से देखें, तो इसका निर्णय उत्तम प्रकार से हो सकता है, जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों को लाभ हो। सिन्ध के उत्तर में पंजाब-प्रान्त है, जिसमें से पाँच मुख्य नदियाँ बही हैं और वे सब सिन्ध-प्रान्त में पहुँचने के पहले सिन्ध-नदी में जा गिरती हैं। पंजाब ऐसा प्रान्त है कि हिमालय की तराई के सिवा अन्यत्र वर्षा बहुत कम होती है। यदि वर्षा के सहारे रहें, तो पंजाब में बहुत कम उपज हो सकती है। परन्तु ईश्वर ने उस प्रदेश को बिल्कुल समतल बनाया है और उसमें से पाँच नदियाँ ऐसी बही हैं, जो हिमालय के बर्फीले स्थानों से निकलती हैं, इसलिये गर्मी के मौसम में भी पानी से भरी रहती रहती हैं। इन दोनों गुणों से लाभ उठाकर अँगरेज सरकार ने नहरों के

कई जाल पंजाब में बिछा दिये हैं, जिससे आबपाशी द्वारा अनेक भाग उपजाऊ हो गए हैं और पंजाब में गेहूँ की उपज बेहिसाब बढ़ गई है। कपास भी पैदा होने लगी है। यह सब उपज सिन्ध प्रान्त के 'कराची' बन्दरगाह द्वारा विदेशों को भेजी जाती है।

सिन्ध का बहुत-कुछ व्यापार पंजाब की इस उपज पर अवलम्बित है। पंजाब की देखा-देखी सिन्ध की सरकार भी सत्तर-अस्सी करोड़ रुपये खर्च करके एक बड़ा विस्तृत बाँध (बारेज) 'सक्कर' पर बाँध रही है। वहाँ पानी इकट्ठा करके सिन्ध के भिन्न भागों में नहरों द्वारा पानी भेजेगी और इस तरह मरुभूमि को उपजाऊ बनाएगी। सिन्ध-वासी इस आशा में फूल रहे हैं कि जब यह बाँध तैयार हो जायगा, तब सिन्ध प्रान्त भी पंजाब के समान मालामाल हो जायगा, मरुस्थल के बदले हरे-भरे मैदान हो जायँगे। परन्तु उनकी आशा अभी पूर्ण हो सकती है, जब पंजाब की नदियों में पानी इतना बच रहे कि सक्कर के बाँध तक आवश्यक-कतानुसार पहुँच सके। किन्तु ज्यों-ज्यों पंजाब में नहरों की संख्या बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों सिन्ध नदी में कम पानी पहुँचेगा। तात्पर्य यह कि सिन्ध का भविष्य पंजाब के अधीन है। यदि दोनों प्रदेश एक हो जायँ, तो वहाँ के लोगों को एक दूसरे का हित देखना पड़ेगा। यदि सिन्ध अलग प्रदेश रहा, तो पंजाब वालों को इस बात की फ़िक्र न रहेगी कि सक्कर के बाँध के लिये काफी पानी छोड़ना आवश्यक है। अभी तक तो भारत सरकार ऐसे झगड़े तय किया करती थी; परन्तु प्रान्तीय स्वाधीनता मिलने पर प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने मन की करेगी और ऊपर का अंकुश कम हो जायगा। इस प्रकार सिन्ध के व्यापार और उसके भविष्य की उन्नति पंजाब पर ही अवलम्बित है। और, बुद्धिमानी तो इसी में है कि सिन्ध वाले पंजाब में जा मिलें। सिन्ध के निवासियों की भाषा तथा रहन सहन बहुत-कुछ पंजाबियों से मिलते-जुलते हैं; परन्तु भौगोलिक ज्ञान न होने से न तो सिन्धवाले पंजाब में मिलना चाहते हैं,

न पंजाबवाले सिन्ध को ही मिलाना चाहते हैं। धार्मिक भेद-भाव के कारण दोनों समुदाय के लोग सिन्ध को अहितकर दिशाओं में खींच रहे हैं।

हिन्दुस्तान में अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ मिलते हैं। उनके द्वारा देश की अनेक आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं; परन्तु एक भारी कसर यह है कि अभी तक मिट्टी के तेल की खानें भारतवर्ष में बहुत कम हैं। जो हैं भी, उनसे यह तेल बहुत कम परिमाण में निकलता है। केवल बर्मा में इसके जबरदस्त सोते मिले हैं। आधुनिक जीवन में इस तेल की बहुत आवश्यकता है। कारण, पेट्रोल के बिना मोटरकार, हवाई-जहाज़ और समुद्री जहाजों का चलना कठिन है। जिस देश में इस तेल के सोते नहीं हैं, उसको परदेश पर अवलम्बित होना पड़ता है। गत महायुद्ध के समय इस प्रकार की आवश्यक सामग्रियों के रोकने का दोनों ओर से भरपूर प्रयत्न हुआ था। और, भविष्य में भी जब कभी युद्ध छिड़ेगा, तब इस प्रकार की आवश्यक सामग्रियों के रोकने का पूरा प्रयत्न अवश्य होगा।

अब, जब हिन्दुस्तान को स्वराज्य देने का अवसर आया है, तब साथ ही बर्मा को अलग करने का भी प्रश्न उठैया गया है। इसका यथार्थ अभिप्राय क्या है? मुझे तो भौगोलिक दृष्टि से मुख्य कारण यह दिखता है कि वहाँ मिट्टी के तेल के सोते इतने अच्छे और बहुमूल्य हैं कि उनको गोरी सरकार ब्रिटिश-साम्राज्य के पूर्ण अधिकार में रखना चाहती हैं; क्योंकि हिन्दुस्तान स्वतन्त्र होने पर भी मिट्टी के तेल के लिये साम्राज्य का आश्रित बना ही रहेगा। यह तेल अमेरिका और बाकू (रूस-राज्य) में बहुतायत से मिलता है। हाल में ईरान और मैसोपोटामिया में भी इसके उत्तम प्रकार के सोते मिले हैं, जो बहुत कुछ ब्रिटिश कम्पनियों के अधिकार में हैं। बिना इस तेल को प्राप्त किये आधुनिक जीवन दिन-दिन कठिन होता जाता है। इस कारण बर्मा का प्रश्न ऐन मौके पर खड़ा कर दिया गया है। यदि इस देश के निवासी भौगोलिक दृष्टि से

इस प्रश्न पर विचार करें, तो इस प्रान्त का महत्त्व शीघ्र उनकी समझ में आ जायगा ; वे बमियों को समझा-बुझाकर किसी प्रकार इस देश के साथ बने रहने को राजी करेंगे ।

इस पृथ्वी पर भिन्न भिन्न राष्ट्रों में जो द्वन्द्व चला है, उसका मुख्य कारण केवल भौगोलिक प्रतिस्पर्द्धा है ; क्योंकि कोई विशेष मार्क का स्थान किसी विशेष राज्य के अन्तर्गत आ जाने से अन्य राष्ट्रों की हानि हो जाती है । उदाहरण लीजिये—तुर्कों के हाथ में कुस्तुनतुनिया के रहने के कारण रूस, रोमानिया और हंगरी देशों का दम घुटता है ; क्योंकि वहाँ की गेहूँ की उपज को बाहर भेजने के लिये एक ही मार्ग है—अर्थात् बासफ़ोरस का मुहाना । तुर्की-सरकार जब चाहे तब उनका व्यापार रोककर उनका गला घोट सकती थी । इस कारण पिछले सौ सवा सौ वर्षों के इतिहास में इन राज्यों का यही उद्योग रहा कि बासफ़ोरस के मुहाने पर तुर्कों का राज्य न रहे ; परन्तु वे यह भी न चाहते थे कि उनमें से किसी एक का राज्य उस मुहाने के आसपास हो जाय ; क्योंकि एक की सत्ता होने से दूसरे को भय बना ही रहता । इस कारण इस प्रश्न का निर्णय सुगमता से न हो सका ।

भौगोलिक दृष्टि से स्वेज़ की नहर का महत्त्व शीघ्र समझ में आ जाता है । इस नहर के बनने के पहले इंगलैण्ड के व्यापारी जहाज़ तथा सैनिक, अफ़्रीका के दक्षिण कोण का चक्कर लगाते हुए, महीनों में हिन्दुस्तान पहुँचते थे । परन्तु इस नहर के बन जाने से रास्ता सीधा और सुगम हो गया है । अब जहाज़ बीस-इक्कीस दिनों में ही आ पहुँचते हैं । हिन्दुस्तान के व्यापार पर सिक़्रा जमाए रखने तथा इस देश में पूर्णरूप से अपनी सत्ता कायम रखने के लिये ब्रिटिश सरकार को यह अभाष्ट है कि स्वेज़-नहर सुरक्षित रहे ; परन्तु नहर तो इजिप्ट (मिस्र) के राज्य में है ; इसलिये मिस्र देश की स्वतन्त्रता छीनने की भी आवश्यकता हुई । फलतः इजिप्ट को अपना अधिकार पुनः प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ पड़ रही हैं ।

हिन्दुस्तान और आस्ट्रेलिया का समुद्री मार्ग सुरक्षित रखने के लिये ब्रिटिश सरकार को जिब्राल्टर, माल्टा और एडन पर भी कब्ज़ा करना पड़ा। जिब्राल्टर पर कब्ज़ा करने से स्पेन देश की नाविक शक्ति के दो भाग हो गये और अब दोनों भाग ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना इकट्ठे नहीं हो सकते। स्पेन के उत्तरी भागों का पारस्परिक व्यापार भी, बिना जिब्राल्टर पार किये, नहीं हो सकता। और, वहाँ का समुद्री मार्ग इतना सँकरा है कि किले की तोपें किसी भी जहाज़ को सुगमता से डुबा सकती हैं। इस प्रकार, जिब्राल्टर हाथ में न रहने के कारण स्पेन का दम घुट रहा है। माल्टा के कारण कान्स और इटली को हमेशा भय बना रहता है।

राज्यों और देशों की स्थिति समझने के लिये इस प्रकार का भौगोलिक ज्ञान परम आवश्यक है। सार यह कि उचित रीति से भूगोल का अध्ययन करने से कई लाभ होते हैं—

(१) अन्य देश के निवासियों का जीवन किस प्रकार का होता है, यह समझ में आ जाता है। इस कारण अन्यदेशवासियों के प्रति सहानुभूति भी उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनके साथ व्यापार का सम्बन्ध भी बढ़ सकता है।

(२) अपने देश में किस प्रकार की पैदावार और धन्ये बढ़ाए जा सकते हैं, किस चीज़ की उपज या कौन-सा धंधा बढ़ाना कठिन है, यह भी समझ में आ जाता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के समझने में सुगमता हो जाती है।

(४) अखबारों तथा राजनीतिक विवादों को वे ही लोग भली भाँति समझ सकते हैं, जिन्होंने भूगोल का यथेष्ट अध्ययन किया है।

जनता को स्वराज्य चलाने की यथोचित शक्ति देने का मुख्य उपाय यह है कि बालकों से भूगोल का अध्ययन उचित प्रकार से कराया जाय।

कुछ इधर-उधर की

प्रत्येक देश की सभ्यता की गति अन्य देशों की सभ्यताओं से कुछ-न कुछ निराली रहनी है। यह अनोखापन ही उस सभ्यता की विशेषता का सूचक है। प्रत्येक देशवासी को अपने देश की सभ्यता का अनोखापन जानना आवश्यक है। वह सभ्यता भी तभी तक बलवान और लाभकारी होगी, जब तक यहाँ के निवासी अपनी सभ्यता के विशेष गुण प्रदर्शित करते रहेंगे। अब देखना चाहिए कि हिन्दुस्तानी सभ्यता में कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं। अगर हैं, तो वे लाभकारी हैं या नहीं। यदि लाभकारी हैं, तो पाठशालाओं तथा कालेजों का यह उद्योग होना चाहिए कि वे विशेषताएँ निकल न जावें। उनके निकल जाने से जातीय शिक्षा का महत्त्व नहीं रहता।

हिन्दू-सभ्यता में कई विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह अन्य देशों की सभ्यता से निराली हो गई है। इस देश में धन को कभी विशेष मान नहीं दिया गया; परन्तु विद्या, तपस्या और अवस्था का मान हमेशा विशेष रहा है। कोई गरीब साधु या ब्राह्मण विद्वान् और चरित्रवान् हो तो उसके पैर छूने में बड़ा से बड़ा राजा अथवा लक्ष्मीपुत्र भी संकोच न करेगा।

इसी तरह हम लोग अपने बड़े-बूढ़ों को बराबर मान देते आये हैं।

यदि कोई मनुष्य रिश्ते में बड़ा है, अथवा वयोवृद्ध है, तो हिन्दू-समाज में वह बराबर मान पाता रहा है। देहात में तो यहाँ तक देखने में आता है कि गाँव का मेहतर-चमार भी यदि वृद्ध हो, तो ज़मींदार के घर के बच्चे भी उसे काका फूफा आदि कहकर बड़े आदर से बोलेंगे।

ईंगलिस्तान में किसी मनुष्य का गरीब होना या फटे-पुराने मैले वस्त्र पहनना, एक प्रकार का पाप समझा जाता है। उसके नज़दीकी रिश्तेदार या पुराने मित्र भी, यदि वे पैसे वाले हों तो, उससे बराबरी का बर्ताव न करेंगे। हिन्दुस्तान में यदि कोई मनुष्य सादे या फटे कपड़े पहनकर अपने घर आवे, तो कभी कोई उसका अनादर न करेगा।

सार यह है कि केवल हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहाँ अधिकार या धन का मान उतना नहीं है, जितना अवस्था, रिश्ता, विद्या अथवा चरित्र का। हाँ, अब, पश्चिमीय सभ्यता के प्रभाव से यह विशेषता कम होती जाती है। परन्तु, यदि हम अपनी जाति को जीवित रखना चाहते हैं, तो इन विशेषताओं को न जाने देना चाहिए।

हिन्दू-जाति में आत्मत्याग की भावना प्रबल है। यदि एक भाई के पास खाने को है और दूसरे भाई के पास नहीं है, तो पहला अधपेटा रहेगा; पर अपने भाई को भूखों न मरने देगा। कुटुम्ब पर प्रेम इतना प्रबल है कि कमानेवाले स्वयं आध पेट खाकर भले ही रहें; पर दूसरों की परवरिश करने में कभी न चूकेंगे।

हम लोगों को यह बात स्वाभाविक मालूम होती है; परन्तु जब अन्य देशों में जाकर वहाँ की स्थिति देखते हैं, तब हिन्दू-जाति के इस विशेष गुण का महत्त्व हमारी समझ में आने लगता है।

कोई हिन्दुस्तानी यदि धन कमाता है, तो उसका बहुत थोड़ा अंश वह अपने लिये खर्च करता है; अपनी आमदनी का बहुत-सा हिस्सा वह दूसरों पर खर्च करता है। इस तरह अनेक गरीब रिश्तेदारों की परवरिश उसके कारण हो जाती है।

इस देश में बिरला ही कोई अभागा मनुष्य होगा, जिसका, बुढ़ापे में—कमाने में अशक्त होने पर—उसके बेटे या अन्य रिश्तेदार, परवरिश न करते हों। कोई-न-कोई उसकी सहायता करने ही लगता है। अन्य देशों में कमाऊ जवान लड़के के रहते हुए भी बुढ़े अशक्त माँ-बाप को अनाथाश्रम (Poor House) का आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दुस्तान में ऐसे दरिद्रालय की अभी तक आवश्यकता नहीं मालूम पड़ी और न गरीबों को उनकी गरीबी उतनी खलने पाई, जितनी अन्य देशों में खलती है। इस देश में यदि किसी गरीब आदमी को लड़की की शादी हो या उसके लड़के का जनेऊ हो, तो उसके रिश्तेदार तथा इष्ट-मित्र कुछ-न-कुछ उपहार के रूप में दे ही जाते हैं। इस प्रकार उस गरीब को धन की सहायता मिल जाती है। सात-पाँच की लाठी एक का बोझ।

यह एक प्रकार का कम्यूनिज़्म है, जिसका प्रचार अब सोवियट रूस में आरम्भ हुआ है; परन्तु हमारे देश में कम्यूनिज़्म (Communism) का एक विशेष रूप हजारों वर्षों से प्रचलित है। हिन्दुस्तानी समाज की योजना इस प्रकार की गई है कि धनवान की सहायता गरीब को मिलती रहती है। अलबत्ता: धनवान ही अपने धन का पूरा उपभोग नहीं कर पाता; इसी कारण हिन्दू अपनी आमदनी के अनुसार नहीं रह सकता। उसे अपनी हैसियत की अपेक्षा गरीबी से रहना पड़ता है। यह अवश्य है कि वह अन्य-देशीय लोगों के समान ठाट-बाट से नहीं रह सकता और कमी-कमी जीवन की होड़ में अधिक दिखावा न कर सकने के कारण उसे पीछे भी हटना पड़ता है। परन्तु फिर भी परमार्थ-भाव प्रबल होने के कारण वह परोपकार अधिक कर सकता है, और गरीबों के समान मिहनत करने में उसे संकोच नहीं होता।

बुन्देलखण्डी भाषा में एक कहावत है—

‘छाख टका की बाननी, कण्डा बीनन जाय।

पाँच टका की तुरकनी, पलका पान खाय।

अर्थात्—लखपती के घर की धाननी (बनिया की स्त्री) कण्डे बीनने को तैयार है ; परन्तु पाँच टके की तुरकनी (मुसलमान औरत) खाट पर बैठे पान चबाती है, काम नहीं करती !

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दू-जाति का सादा जीवन औरों के भड़कीले जीवन से हज़ार दफ़े अच्छा है । कोरी शोखी में क्या रक्खा है ? किन्तु सादगी के जीवन का यह अर्थ नहीं है कि लोग मैले-कुचैले कपड़े पहनें या वस्त्र ऐसे बनवायें कि शरीर का घाट-कुघाट मालूम हो अथवा देखने वाला इस भ्रम में पड़े कि यह मनुष्य पराक्रमहीन या बुद्धिहीन है । मेरा अभिप्राय केवल यही है कि अनावश्यक भोजन करना ठीक नहीं, दिखाऊ कपड़े पहनना ठीक नहीं, या धन होने पर काम करने में संकोच होना भी ठीक नहीं ।

हिन्दू-सभ्यता का सार यह है कि मनुष्य सादा भोजन करे, सादा पहने और सादा जीवन व्यतीत करे ।

पश्चिमी सभ्यता का एक बुरा असर यह हो रहा है कि बालकगण घर का काम करने में भी संकोच करते हैं । कई बार देखने में आया है कि रास्ते में स्कूल के लड़के साग-भाजी लाते हुए दिखाई दिये ; परन्तु अपने शिक्षक को देखते ही पोटली छिपाने का प्रयत्न करने लगे । घर का काम करने के कारण मनुष्य को किसी प्रकार से नीचा नहीं देखना चाहिये; क्योंकि नैतिक दृष्टि से ये कार्य उत्तम तथा निर्दोष हैं । बाज़ार से साग-भाजी लाने में कुछ चूड़ियाँ नहीं फूट जातीं कि लोग शर्मिन्दा होने लगते हैं । भले आदमी को तो अपना काम करने में कभी संकोच होना ही नहीं चाहिये, काम पड़ने पर भारी भारी चीज़ें भी सबके सामने उठाकर ले जाना चाहिये । जो मनुष्य अपना हाथ-पैर चलाना नहीं जानता, उसमें विद्या भले ही हो ; परन्तु प्रज्ञा तो उसे छू भी नहीं गई ।

बेकार रहना पापों की जड़ है । जो मनुष्य अपने कार्य में दत्तचित्त रहेगा, वह दुर्व्यसनों में कभी न पड़ेगा । इसलिये पाठशालाओं में यह

शिक्षा दी जानी चाहिये कि बालकगण हाथ-पैर चलाना सीखें, घर के काम-काज में माँ-बाप को हर तरह की सहायता दें, बाज़ार से पीठ पर सौदा लाद लाने में शर्म न करें ।

भाग्यवश हिन्दुस्तान में गरीब होना पाप नहीं समझा जाता ; इस-लिये व्यर्थ के जेण्टिल मैन् बनने का शौक बालकों को नहीं लगाना चाहिये । मुझे तो वे बच्चे अधिक प्यारे मालूम होते हैं, जो अपनी माँ का कष्ट मिटाने के लिये घर में भाड़ू देते हैं और काम पढ़ने पर बासन् माँजकर चूल्हा भी लीप देते हैं ; परन्तु ऐसे उत्तम बालक भी दूसरों के आ जाने पर कुछ-न-कुछ शर्माते अवश्य हैं । उनकी यह शर्म निकालनी चाहिये ।

आजकल शिक्षित मनुष्यों में बेकारी बहुत है । इसका एक कारण यह है कि उनमें जेंटिल मैनी की बू भर जाने से वे केवल दो-चार प्रकार के रोज़गार ही कर सकते हैं । बाकी रोज़गार का नाम लेते ही नाक-भों सिकोड़ने लगते हैं ।

शिक्षा का उद्देश्य यह न होना चाहिये कि बालकों में बाबू-साहबी की बू भर जावे । शिक्षा से उपार्जन-शक्ति बढ़नी चाहिये और शिक्षित मनुष्य को कोई भी ऐसा कार्य अपने हाथ में लेने को तैयार होना चाहिये, जिससे ईमानदारी का पैसा मिले ।

जो बालक घर का काम न करेंगे अथवा बाज़ार से सौदा लाने में शर्म करेंगे, वे कदापि कार्य-कुशल नहीं हो सकेंगे । वे बड़े होने पर दुनिया में ठोकरें खाते फिरेंगे । बड़े घर के बालकों को भी स्कूलों में सादगी का जीवन सिखाना चाहिये । सादा भोजन, सादे बिस्तर, सादे बर्तन, सादी पोशाक, सभी सामान सादे सबके लिये लाभकारी हैं । जिनमें नवाबी आ जाती है, वे पीछे बहुत दुःख पाते हैं ।

हिन्दुओं में क्षमा-बुद्धि प्रबल होती है । स्वराज्य चलाने के लिये इस बुद्धि का होना आवश्यक भी है । अधिकारी कैसा ही सज्जन क्यों न हो, उसके कार्यों से किसी-न-किसी का मन दुखेगा ही । वह हज़ार प्रयत्न करे,

पर उसके फैसलों से किसी-न-किसी को क्लेश होगा ही। उदाहरण के लिये यदि कोई न्यायाधीश किसी मुजरिम को सज़ा दे, तो दोषी के पक्षपातियों को दुःख अवश्य होगा। वे लोग इस बात को कठिनाई से स्वीकार करेंगे कि न्यायाधीश ने न्याय किया।

हिन्दू-समाज में एक बड़ा गुण यह है कि जिस पर वह अप्रसन्न हो गया, उसको कुछ दिनों के उपरान्त वह क्षमा प्रदान करने को भी तैयार रहता है; इस कारण हिन्दू-जाति के लिये स्वराज्य चलाना कठिन न होगा। कई देश के निवासियों में ईर्ष्या और द्वेष की मात्रा इतनी प्रबल रूप से पाई जाती है कि शत्रु के मर जाने पर भी उसकी दूसरी-तीसरी पीढ़ी तक से बदला लेने की धुन सवार रहती है। ऐसे देश के निवासियों में प्रजातन्त्र-प्रणाली फलीभूत नहीं हो सकती, वहाँ तो “जाकी लाठी ताकी भैंस” वाली कहावत का ही परिचय मिलेगा।

परन्तु, चाणक्य के कथनानुसार—‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’—अर्थात् अति से हमेशा बचना चाहिये। हिन्दू-समाज में क्षमा की मात्रा भी अधिक हो गई है। यदि किसी व्यक्ति के साथ कोई मनुष्य अपकार करे, तो उसे उस व्यक्ति को क्षमा प्रदान करना उचित है। परन्तु, यदि कोई मनुष्य, समाज का ही नाश करने पर उतारू हो, तो उसको दण्ड न देना वैसा हो भयंकर है, जैसा विषधर सर्प को अपने घर में रहने देना। धोखे से क़सूर हो, तो क्षमा करना ही उचित है; परन्तु दुष्टों का दमन न करना भी उचित नहीं है। समाज की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि इनको दण्ड देने के लिये अपने मन को पक्का करना हिन्दू लोग सीखें और अपने बालकों को भी सिखावें।

हिन्दुस्तान में, समय के प्रभाव से, भिन्न-भिन्न देशों के निवासी तथा भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी आकर बस गये हैं। हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, कबीरपन्थी, नानकपन्थी आदि अनेक मत हैं। इन के सिवा विदेशी धर्मों के अनुयायी भी हैं—जैसे मुसलमान, ईसाई, यहूदी,

पारसी आदि । इन सबके साथ हिल-मिलकर हम लोगों को रहना है । स्वराज्य मिलने पर एक दूसरे की सहायता से काम करने में सफलता मिल सकती है, द्वेष बढ़ाने से नहीं । स्वराज्य में किसी धर्म-विशेष के अनुयायी भिन्न-धर्मानुयायी पर अत्याचार या मनमानी हुकूमत नहीं कर सकते ।

इन कारणों से यह बहुत आवश्यक है कि हम लोग एक-दूसरे के धर्म का मान करना सीखें और किसी के धर्म की व्यर्थ निन्दा न करें ।

हिन्दू-धर्म का विशेष गुण यह है कि उसमें ईमान की क़ेद नहीं है, केवल आचार-विचार को महत्त्व दिया जाता है । हिन्दू-धर्म का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति या समाज, अपनी योग्यता के अनुसार, धर्म का कोई विशेष रूप ग्रहण करता है । कोई किसी मार्ग से जावे और कोई किसी से । आखिर पहुँचेंगे सब एक ही जगह । टेढ़ा मार्ग पकड़ने से कुछ देर लगेगी और सीधे मार्ग से कम समय लगेगा । परन्तु कौन-सा मार्ग किसके सुभीते का है, इसका निर्णय व्यक्ति पर निर्भर है । इसी कारण हिन्दू-जाति में कुछ लोग मूर्तिपूजा करते हैं, कुछ ग्रन्थ की पूजा करते हैं, कुछ निराकार ईश्वर को मानते हैं, कोई अद्वैतवाद का सिद्धान्त मानता है और कोई द्वैतवाद को ठीक समझता है । यहाँ तक देखने में आता है कि पति वैष्णव है, तो पत्नी जैनी ; एक भाई सिक्ख है, दूसरा आर्यसमाजी ; पिता वैष्णव है, बेटा शैव !

तुलसीदासजी की दीक्षा से हिन्दू-समाज में मतमतान्तरों के झगड़े बहुत कम हो गये हैं । तुलसीदासजी ने अनोखे ढंग से इन पुराने झगड़ों को बहुत-कुछ मिटा दिया है ।

इस प्रकार की धार्मिक उदारता दुनिया में बहुत कम देखने में आती है । हिन्दू-धर्म एक समुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आकर समा जाती हैं । इस उदारता में ही हिन्दू-धर्म का यथार्थ बड़प्पन है । उसीके कारण आशा होती है कि अवकाश मिलने पर हिन्दूजाति उन्नति के शिखर पर फिर पहुँच सकती है ।

परन्तु साथ ही यह भी कबूल करना पड़ता है कि उसीके कारण हिन्दू-समाज में सुगमता से एकता नहीं होने पाती। हर जगह डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकती है। अन्य-धर्मावलम्बियों से संघर्ष होने पर हिन्दू-जाति के लोग सुगमता से एक नहीं हो सकते। फूट का बाज़ार गरम ही रहता है।

यह देखकर अनेक हिन्दू भाई हिन्दू-समाज का संगठन दूसरे प्रकार से करना चाहते हैं, जिससे कि जीवन-द्वन्द्व में हिन्दू-समाज की कमज़ोरी निकल जावे। वे चाहते हैं कि लोगों में एक ही प्रकार के विश्वास रहें और एक ही क्षण्डे के नीचे सब खड़े हों; परन्तु ऐसा करते समय उन्हें देख लेना चाहिये कि हिन्दू-समाज का जो विशेष गुण है—अर्थात् धार्मिक उदारता—कहीं वह न मारा जावे; क्योंकि इस देश के निवासी दूसरे देशों के लिये आदर्श तभी हो सकते हैं, जब वे ऐसा कोई काम कर दिखलावें, जैसा दुनिया में कहीं हो नहीं सका।

धार्मिक उदारता अब भी जैसी इस देश में—विशेषकर हिन्दू समाज में—पाई जाती है, वैसी बीसवीं शताब्दी में भी अन्य देशों में कम देखने में आती है। हिन्दू-समाज विश्वास और ईमान की क़ेद नहीं डालता। उसकी भाषाओं में मज़हब या रिलीजन (religion) शब्दों का छोटक कोई शब्द नहीं है। धर्म का अर्थ कर्तव्य कर्म है। जो अपना कर्तव्य पूरा करे, वही धार्मिक, चाहे उसका ईमान कुछ भी हो।

ऐसे देश में, जहाँ दुनिया-भर के प्रायः सब धर्म आकर इकट्ठे हुए हैं और जहाँ अब स्वराज्य चलाना है, इस प्रकार की चित्तवृत्ति बहुत आवश्यक है—बिना उसके देश का कार्य निर्विघ्नता से नहीं हो सकता। इसलिये पाठशालाओं तथा कालेजों का कर्तव्य है कि विद्यार्थियों को धार्मिक विषयों में उदार-चित्त होना सिखलावें। वे दूसरों के गुण देखना सीखें, व्यर्थ उनके विश्वासों की आलोचना करना न सीखें।

बुद्धि मापने के वैज्ञानिक उपाय

स्वराज्य में उनकी आवश्यकता और उनसे लाभ

वर्त्तमान युग यथार्थ ज्ञान का युग है

वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता की यही विशेषता है कि वह वस्तु, समय, स्थान, लम्बाई, गति इत्यादि को सावधानी और यथार्थता से मापने को अधिक महत्व देती है। पहले केवल नाड़ी टटोल कर ही किसी व्यक्ति का स्वास्थ्य जान कर लोग सन्तुष्ट हो जाते थे ; किन्तु अब डाक्टरों को ताप-मापक यन्त्र (थर्मामीटर) चाहिये और साथ ही वे इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि उस यन्त्र का कुछ विशेष तथा निश्चित अवस्थाओं में ही प्रयोग किया जाय, तभी उसका तापमान सन्तोषप्रद समझा जायगा। वे केवल यथार्थ तापमान ही नहीं चाहते, वरन् एक मिनट में हृदय के स्पन्दन की यथार्थ संख्या तथा मल-मूत्र में विभिन्न पदार्थों की यथार्थ प्रतिशत उपस्थिति को भी जानने का प्रयत्न करते हैं। लम्बाई मापने के लिये हम आदर्श परिस्थिति के अनुकूल प्रमाणित पैमाने का ही आश्रय लेते हैं। एक साधारण गज गमीं बढ़ने-घटने के साथ ही बढ़-घट सकता है। अतः सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता के लिये यथार्थ लम्बाई वही है, जो विशेष परिस्थितियों में मापी गई हो। यही बात किसी वस्तु को तोलने में भी

लागू होती है। शक्ति का मान लेने के लिये यथार्थ एकांक (यूनिट) बना लिये गये हैं (जैसे, मशीन के लिये घोड़े की शक्ति, तथा प्रकाश के लिये मोमबत्ती की शक्ति) और एक-एक सेकेण्ड की गति का मान कर लिया गया है। उदाहरणतः हम यह जानकर ही सन्तुष्ट नहीं होते कि कौन-सा बालक सबसे तेज़ दौड़ता है, घन् रुद्धघटिका (stop-watch) की सहायता से उसकी यथार्थ गति को एक सेकेण्ड के भी भिन्न तक जानने का प्रयत्न करते हैं और प्रसिद्ध दौड़ों के फल के साथ तुलना करते हैं। सच पूछिये तो मानव-जीवन के सभी विभागों में सूक्ष्मतम मापन की महत्ता का अनुभव होने लगा है और अब हम संदिग्ध साधारण लक्षण तथा स्थूल गणना का अधिक अवलम्ब नहीं ले सकते।

वर्तमान युद्ध-रोतियों में सावधान मापन तथा विशाल

बुद्धि की अपेक्षा

सावधान तथा सूक्ष्म मापन से कार्यसिद्धि-क्षमता प्राप्त होती है और कार्यसिद्धि-क्षम जाति सरलता से उन्नति-शिखर प्राप्त कर लेती है। वर्तमान सेना की सफलता सैनिकों अथवा सेनानायकों के व्यक्तिगत बल, साहस और शौर्य पर उतनी अवलम्बित नहीं होती, जितनी सेनाओं की गति तथा गोले फूटने के सूक्ष्मतम समय के ज्ञान से होती है। फ्रांस से लौट कर एक भारतीय सैनिक अफ़सर ने एक अँगरेज़ सेनापति के जर्मन मोर्चों पर धावा करने की एक शिक्षाप्रद कथा मुझे सुनाई थी। जर्मनों को खाई से निकालना आवश्यक समझ कर उस सेनापति ने १६०० तोपों को एकत्र किया। प्रत्येक तोप खाई की बाड़ी के विशेष-विशेष भाग को तोड़ने को नियुक्त की गई। प्रत्येक तोप के नायक ने अपने और बाड़ी के अन्तर का हिसाब लगा लिया था और प्रत्येक गोले के छोड़ने का ठीक समय भी निश्चित हो गया था। उस भारतीय अफ़सर ने पैदल बेड़े को चार मील आगे खाइयों के निकट भेज दिया था, जिससे कि वह गोलन्दाज़ी

बंद होते ही जर्मन खाई पर धावा कर दे। प्रत्येक छोटी-छोटी बात का ब्योरेवार प्रबन्ध तथा सेकेण्ड के भिन्नांश तक का भी कार्यक्रम निश्चित कर लिया गया था। निश्चित समय पर तड़के ही तोपों की बाढ़ आरम्भ कर दी गई और प्रत्येक तोप से आठ-आठ फ़ैर हुए। भारतीय पैदल बेड़ा गोलन्दाज़ी समाप्त होते ही तुरन्त खाइयों पर लपक कर आगे बढ़ा, किन्तु दुर्भाग्यवश कहीं हिसाब में गड़बड़ी हो गई थी। एक डोगरा पल्टन जब सामने की खाइयों पर लपकी तब क्या देखती है कि बाड़ी के तार, जो काँटदार होते हैं, गोलों से टूटे तक नहीं हैं, इस कारण उसे रुकना पड़ा। जर्मन मर्शानगनों से मार पड़नी शुरू हुई और चार-पाँच मिनट के अंदर ही उस पल्टन का स्वाहा हो गया। बेड़े की अन्य तीन पल्टनों को खाई की बाड़ी टूटी मिली और वे आगे बढ़ गईं। डोगरा रेजिमेंट के सामने खाइयों में बैठे जर्मनों ने, डोगरों को नष्ट कर, आगे बढ़ती हुई अन्य भारतीय पैदल सेना पर पीछे से गोली बरसाना प्रारम्भ किया। फलतः दोनों ओर से मार पड़ने पर इस सेना को आत्मसमर्पण करना पड़ा। तोप के एक गोले का मूल्य परिमाण के अनुसार तीस सहस्र से लेकर एक लाख रुपये तक होता है। उस दिन १२८०० गोले दागे गये थे। इसीसे सरकार की क्षति का आप अनुमान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो तीन या चार सहस्र मनुष्य हताहत अथवा बंदी हुए सो अलग ! भारतीय अफ़सर मुझे यह न बता सका कि गोलों से उतनी बाड़ी क्यों न नष्ट हुई, किन्तु मैं अनुमान करता हूँ कि या तो गोलन्दाज़ों ने वास्तविक अन्तर को ठीक न जानकर गोले अधिक दूर फेंके ; अथवा वे हवा में अधिक ऊँचे पर फटे, अर्थात् एक या दो सेकेण्ड पहले फूट गये और इस अज्ञान का फल हुआ घन जन तथा यश की भयंकर क्षति। वर्तमान युद्ध के लिये अत्यन्त सावधानी से समय, अंतर, शक्ति आदि का यथार्थ माप करना अत्यन्त आवश्यक है। तनिक-सी असावधानी का भयंकर परिणाम हो जाता है।

उच्च पदों के लिये बुद्धिमानों की आवश्यकता

मैंने युद्धक्षेत्र का उदाहरण इसीलिये दिया है कि लोगों में भ्रम-विचार हैं कि लड़ने में बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् बल ही सहायक होता है ; किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । जीवन की सब परिस्थितियों में बुद्धि की आवश्यकता है । अल्पबुद्धि मनुष्य अवनति की ही ओर अग्रसर होगा, चाहे वह कोई वृत्ति क्यों न स्वीकार करे । पक्ष-पातिता अथवा जातीय विचार से कोई अयोग्य व्यक्ति उच्च पद पर भले ही प्रतिष्ठित हो जाय और योग्य व्यक्ति नीचे गिरा दिया जाय ; किन्तु जिस प्रकार हल्की वस्तु ऊपर उठती और भारी वस्तु पानी में नीचे जाती है (और इस नियम का उल्लंघन नहीं हो सकता), उसी प्रकार कुशाग्र बुद्धि मनुष्य को उन्नति के शिखर पर ले जाती है और मन्द बुद्धि उस को नीचे गिरा देती है ।

कुशाग्रबुद्धि बच्चों को छाँटने की महत्ता

जाति-निर्माण की दृष्टि से विशेष बुद्धिसम्पन्न बालकों को पहले से ही छाँटकर उनको विशेष बुद्धि के अनुसार शिक्षा देना तथा उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और वातावरण आदि का समुचित प्रबन्ध करना अत्यावश्यक है ; क्योंकि वास्तव में यही वे लोग हैं जो बड़े होने पर देश के नेता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कलाविद्, राजनीतिज्ञ, शासक तथा सेनानायक इत्यादि हो सकते हैं । अब, जब कि भारतीयों को पूर्ण रूप से समुन्नत होने का अवसर धीरे-धीरे मिल रहा है, तब यह और भी अधिक आवश्यक है कि हम वास्तविक विशेष बुद्धिशाली बच्चों को छाँटकर उन्हें उचित शिक्षा और उपदेश देकर उन्नत होने का क्षेत्र और अवसर प्रदान करें । कभी-कभी जो अवसर वर्तमान युग के नवयुवकों को प्राप्त हैं, उन्हें देखकर पुराने लोगों को ईर्ष्या तक होती है ; किन्तु वे उन अवसरों का फल तभी

पा सकते हैं, जब वे उनके योग्य निकलें और हम लोग उपयुक्त वृत्ति छाँटने में उनके सहायक हों और उन्हें उपयुक्त अवसर दें। जिन बच्चों ने अभी अपनी पढ़ाई प्रारम्भ की है, उनकी स्वाभाविक बुद्धि तथा शक्ति का उचित मापन तथा उनके मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति जानना और भी अधिक महत्व का कार्य है। वास्तव में विशेष बुद्धिमान बालक प्रारम्भिक शिक्षा के लिये चार वर्ष और उच्च शिक्षा के लिये छ वर्ष व्यर्थ क्यों नष्ट करे? वह तो डाकगाड़ी के समान उस अंतर को थोड़े ही समय में पार कर सकता है। ऐसे बालक को जबरदस्ती मालगाड़ी की चाल से ले चलना समय और शक्ति का पापमय व्यय है। किंतु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ठीक यही करने की व्यवस्था करती है। यह प्रणाली कुशाग्र बुद्धि, साधारण बुद्धि तथा अल्प बुद्धि वाले सभी बच्चों को एक ही गति से चलने के लिये बाध्य करती है। कुशाग्र बुद्धि वाला बालक अपनी शक्ति और बुद्धि के विकास के लिये क्षेत्र न पाने से क्षुब्ध और निश्चेष्ट हो जाता है। कभी-कभी वह शरारती हो जाता है और मानसिक क्षय से प्रभावित होकर कुमार्ग में पड़ जाता है, और इस प्रकार देश तथा जाति एक अमूल्य रत्न से हाथ धो बैठती है। इसके विपरीत अल्प बुद्धि वाला बालक आवश्यक योग्यता भाँ नहीं प्राप्त कर सकता; वह दिये हुए कार्य के विरुद्ध क्रुद्ध होता है और फलतः वह निराश और दब्यु हो जाता है। उसका जीवन आनन्द-रहित हो जाता है, वह सदा असफल रहता है और उसके आश्रित भी दुखी होते हैं। यदि उसकी शक्ति ठीक माप ली जाय और उचित समय पर उसी के अनुकूल कार्य दिया जाय, तो वही व्यक्ति समाज का उपयोगी सदस्य हो सकता है।

उचित व्यवसायी शिक्षा सम्भव हो जाती है

मुझे यहाँ यू० पी० सेक्रेटेरियेट के एक सज्जन की कथा याद आती है। प्रायः चालीस वर्ष बीते होंगे, उनका एक लड़का स्कूल में पढ़ता था।

उसे न तो हिसाब समझ में आता था और न व्याकरण। रटने के विषयों से उसके देवता कूच कर जाते थे। स्कूल की रिपोर्ट सदा उसके विरुद्ध रहती और फलतः उसके पिता उसको गधे के समान पीटते थे। यहाँ तक कि पिता-पुत्र की इस अनबन के कारण उनका पारिवारिक जीवन कष्टमय हो गया था। पिता उसको अँगरेज़ी और हिसाब का पंडित बनाना चाहता था; क्योंकि उसकी अभिलाषा थी कि उसका पुत्र उसके पीछे सेक्रेटेरियेट में उसका स्थान ले; किन्तु मैं उस बालक को भली प्रकार जानता था—उसकी रुचि संगीत और यंत्रकला की ओर थी। मैं देखता था कि वह जेब-घड़ी, दीवार-घड़ी, बाइसिकिल तथा अन्य वस्तुओं की बिना मूल्य मरम्मत कर दिया करता था। यदि उसको ऐसा व्यवसाय करने का अवसर दिया जाता, तो वह संभवतः उतना ही द्रव्य कमा सकता जितना कि उसका पिता सेक्रेटेरियेट में कमाता था। उस लड़के को संगीत से स्वाभाविक प्रेम था और ईश्वर ने उसे मधुर कण्ठ भी दिया था; किन्तु जब कभी वह इस वृत्ति में पकड़ा जाता तो यूक्रेड के प्रथम स्वयंसिद्ध के समान गणित की अवहेलना के अपराध में छड़ी देनी बेचारे बालक की पीठ पर ताण्डव नृत्य करती दिखाई देती थी। लड़का कभी सेक्रेटेरियेट के योग्य न बन सका और पिता की संपूर्ण आशाएँ मन की मन ही में रह गईं; किन्तु फिर भी उसके पिता ने उसे एक बैंक का क्लर्क बना ही दिया। प्रायः बारह वर्ष बाद मैं उस लड़के से मिला। वह निस्तेज और रोगी प्रतीत होता था और उसे अपनी वृत्ति से घृणा थी। उसको स्त्री और उसके बच्चे भी उससे दुखी थे, क्योंकि उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था। परिणाम यह हुआ कि वह युवक समय से पूर्व ही इस संसार से बिदा हो गया! किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि उसकी रुचि के अनुकूल उसकी वृत्ति होती, तो वह समाज का सफल और उपयोगी सदस्य होता और अपने कुटुम्बियों तथा पड़ोसियों को सुख देता और दीर्घजीवी होता।

इस अनुभव से हमें कुछ आभास मिल सकता है कि हमारे चारों ओर क्या हो रहा है। स्मरण रखने की बात यह है कि स्कूल वाले भी बालक की स्वाभाविक चित्तवृत्ति जानने में प्रायः असफल रहते हैं और माता-पिता भी अपने धन्धों में फँसे रहने के कारण उनका ठीक अध्ययन नहीं कर सकते। एक शिक्षित मनोवैज्ञानिक एक घंटे की परीक्षा में ही वह छिपी हुई निधि बतला सकेगा, जो कि स्कूल के अध्यापक और अभिभावक की सामर्थ्य के सर्वथा बाहर है।

स्कूल की परीक्षाएँ भरोसे के योग्य नहीं हैं

इस संबंध में स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो यह कि क्या स्कूल की परीक्षाओं से बच्चों की बुद्धि का यथार्थतः परिज्ञान हो सकता है? यदि नहीं होता तो प्रश्न यह उठता है कि सब वस्तुओं के यथार्थ और सावधान मापन के युग में बुद्धि मापने के लिये क्या उपाय किया जा रहा है?

पहले प्रश्न का उत्तर तो निषेधात्मक है। स्कूल की अथवा सार्वजनिक परीक्षाएँ स्वाभाविक बुद्धि की परीक्षा न करके अर्जित ज्ञान की परीक्षा लेती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं से यह प्रमाणित होता है कि कुशाग्र बुद्धि वाले बच्चों को स्कूल वाले ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। टरमन ने ऐसे सौ बच्चों की परीक्षा करके यह फल निकाला कि उनमें से अधिकांश बच्चे अपनी बुद्धि के बल की तुलना में नीची कक्षा में पड़े हुए थे। प्रायः एक-तिहाई बालकों को स्वाभाविक बुद्धि होते हुए भी एक-दो कक्षा आगे जाने की आज्ञा नहीं दी गई। यहाँ तक देखने में आया कि कोई-कोई विशेष बुद्धिशाली बालक अधिक सरल कार्य को अधिक समय तक करते-करते शिथिल भी हो जाते हैं।

मनोवैज्ञानिकों के द्वारा निकाले हुए परिणाम का समर्थन हमारे निजी अनुभव से ही हो जाता है। स्कूल अथवा कालेज का तेज़ लड़का या लड़की जीवन में हमेशा अधिक सफल नहीं होती और जो बालक वहाँ साधारण

श्रेणी के समझे जाते हैं वे अपने सामाजिक जीवन में हमेशा सामान्य नहीं रहते । हम जानते हैं कि 'क्लाइव' स्कूल के लिये व्याधि था, 'नेलसन' भी कुछ कम न था, और कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी अपने स्कूल जीवन से ऊब ही गये थे । स्कूल और कालेज की शिक्षाप्रणाली न तो विशेष बुद्धिशाली बालकों को छाँट ही सकती है, न उनकी सहायता ही कर सकती है । बहुत से व्यक्तियों ने, जो अपनी बुद्धि के बल पर अनेक वृत्तियों में उच्चतम पद पर पहुँच गये हैं, स्कूल के कमरे में कोई विशेषता नहीं दिखलाई थी । निजी अनुभव के दो उदाहरण मेरे सम्मुख हैं । सर तेजबहादुर सप्रू स्कूल में बहुत साधारण श्रेणी के विद्यार्थी समझे जाते थे और स्वर्गीय सर सुन्दरलाल का कालेज में केवल 'संतोषजनक' ही जीवन समझा गया था ; परन्तु वे निकले अत्यन्त प्रभावशाली । आजकल के कितने धनकुवैरों, व्यवसायी नेताओं, दार्शनिकों अथवा आन्दोलनों के नेताओं का स्कूल अथवा यूनिवर्सिटी-जीवन विशेषता-पूर्ण रहा है ?

इन सब अनुभवों से यह निर्विवाद परिणाम निकलता है कि स्कूल अथवा कालेज के संचालक तथा अधिकारी प्रारम्भिक काल में ही बच्चे की वास्तविक महत्ता को मापने में प्रायः असमर्थ होते हैं ।

बुद्धि-परीक्षाएँ

इसलिये मनोवैज्ञानिक इस प्रश्न को हल करने के लिये तथा बच्चों की स्वाभाविक बुद्धि को मापने के सर्वश्रेष्ठ उपाय को खोज निकालने के लिये बड़े व्यस्त थे । लाखों बच्चों के अनुभव तथा उनकी परीक्षा करके कुछ परीक्षाएँ निर्धारित की गई हैं । इनमें से सर्वश्रेष्ठ हैं—(१) व्यक्तिगत परीक्षा के योग्य साइमन और बिने की परीक्षाओं की स्टेनफ़र्ड आवृत्ति और विस्तार, तथा (२) एल्फ़ा परीक्षा अथवा समूह-परीक्षा—जो सेना तथा पुलिस में रैगलूटों की परीक्षा के लिये तथा विभिन्न व्यवसायों में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों की योग्यता अथवा अयोग्यता

की परीक्षा के लिये अमेरिका में अधिक व्यवहृत होती है । इनके सिवा सिंथेक्स, नेशनेल, ओटिस और नार्थम्बरलेण्ड नामक परीक्षाएँ हैं । माता-पिता और अध्यापक इन सबका सफलतापूर्वक नहीं प्रयोग कर सकते । उपर्युक्त निर्धारित परीक्षाएँ कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलंबित हैं । यदि मैं इनमें से कुछ आपके सम्मुख उपस्थित करूँ, तो उनको देखते ही आप कहेंगे कि इनका प्रयोग तो माता-पिता, बड़े भाई, बहनें तथा अध्यापक सभी कर सकते हैं । किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है । नियत प्रणाली में तनिक भी भेद हो जाने से परिणाम उलटा हो जाता है । माता-पिता अपने बालकों से कुछ विशेष परिणामों को प्राप्त कराने के लिये उत्सुक होते हैं और वे अपने चेहरे की मुद्रा अथवा भावभंगी से परीक्षार्थी को इच्छित उत्तर सुझा देते हैं । अध्यापक की भी कुछ अपनी पूर्व-सूचित धारणाएँ रहती हैं और फिर वह मनोवैज्ञानिक भी तो नहीं होता । इन परीक्षाओं के प्रश्नों का प्रत्येक शब्द प्रमाणित हो गया है और उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता । इसलिये योरप और अमेरिका में मनोवैज्ञानिकों की एक नई वृत्ति उत्पन्न हो गई है, जिनका कार्य स्कूल के बच्चों की परीक्षा करना तथा उनके लिये बुद्धि-संबंधी उचित चिकित्सा का निर्देश करना होता है । वे नौकरी के इच्छुक व्यक्तियों की परीक्षा तथा उनमें से प्रत्येक की बुद्धि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी रक्खे जाते हैं । वे उसी प्रकार सम्मति देने के लिये बुलाए जाते हैं जैसे वेंच । व्यवसायी तथा मजदूरों को नौकर रखने वाले मालिकों को, एक मनो-वैज्ञानिक को करारी फ़ीस देकर, यह जान लेना अधिक सस्ता पड़ता है कि किसी विशेष पद के लिये कौन व्यक्ति उपयुक्त है, बनिस्बत इसके कि कोई भी व्यक्ति योंही नौकर रख लिया जाय और उसको उस कार्य के योग्य बनाने की शिक्षा देने में समय और शक्ति का अपव्यय किया जाय, और कुछ महीनों के पश्चात् उसको उस पद के योग्य न जानकर उसे कोई नीचा पद दे दिया जाय ।

माता-पिता और अभिभावकों को भी इसमें लाभ है कि उनके आश्रित बालकों की मनोवैज्ञानिक परीक्षा हो जाय और मनोवैज्ञानिक के कथनानुसार उनको शिक्षा दी जाय। कोई वृत्ति धारण करने से पूर्व युवक और युवतियों को मनोवैज्ञानिक के कथनानुसार चलने से यह ज्ञात होगा कि उन्हें उनके योग्य वृत्ति प्राप्त हो जाती है और असफलता के अवसर कम हो जाते हैं।

इन परीक्षाओं के सिद्धान्त

ये परीक्षाएँ इस सिद्धान्त पर अवलंबित हैं कि बालक की स्वाभाविक बुद्धि का विकास सोलहवें या अठारहवें वर्ष तक होता है, उसके बाद वह विकसित नहीं होती। कोई व्यक्ति उस अवस्था के बाद भी स्कूल या कालेज में ज्ञानोपार्जन कर ले, किन्तु स्वाभाविक विकास तो रुक जाता है। अतः आयु-परिमाण ही औसत स्वीकार किया गया है। दूसरी बात यह है कि उन लोगों का लक्ष्य केवल उच्चतर मानसिक अवस्थाओं की ही परीक्षा लेना है, जैसे तर्कबुद्धि तथा मौलिकता और कठिन समस्याओं पर निर्णय करने की शक्ति भी वे देखते हैं। अंतिम बात यह है कि वे तो गुनने की शक्ति की परीक्षा लेना चाहते हैं, स्कूल-ज्ञान अथवा गृह-शिक्षा की नहीं।

बुद्धि-लब्धि निकालने का नियम

तीन वर्ष से लेकर १८ वर्ष तक के बालकों के लिये परीक्षा-मालाएँ निर्धारित की गई हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, उसकी बुद्धि उस वर्ष की होती है। मान लीजिये कि एक बालक आठ वर्ष का हो चुका है, और वह उस वर्ष के लिये निर्धारित परीक्षा में सफल हो गया है, तो वह बालक आठ वर्ष के बच्चों की बुद्धि रखता है। इस दशा में बुद्धिलब्धि (गुण्य) १०० निश्चित किया है। किन्तु, यदि

वही बालक नौ अथवा दस वर्ष की अवस्था वालों की परीक्षा में सफल हो, तो उसकी शारीरिक आयु आठ वर्ष की होते हुए भी मानसिक आयु नौ या दस वर्ष की समझी जायगी। मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देकर १०० से गुणा करने से बुद्धिलब्धि (Intelligence quotient) प्राप्त हो जाता है। जैसे वास्तविक आयु से अधिक मानसिक आयु वाले बालक निकलते हैं, वैसे ही कम मानसिक आयु के भी बालक पाये जाते हैं। सहस्रों की परीक्षा लेकर और बुद्धिलब्धि जानकर, मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया है—

बुद्धिफल— १. १५० से ऊपर—देवबुद्धि

१४० से ऊपर—प्रायः देवबुद्धि

२. १२०-१४० —अत्यन्त उच्च बुद्धि

३. ११०-१२० —उच्च बुद्धि

४. ९०-११० —औसत बुद्धि

५. ८०- ९० —स्थूल बुद्धि

६. ७०- ८० —मंद बुद्धि की सीमा पर

७. ७० से नीचे निश्चित मंद बुद्धि

८. ६० ,, ,, मूर्ख

बुद्धिगुण्य की शासक शक्तें

इस ओर की हुई खोजों से तीन तथ्य निश्चित रूप से सम्मुख आते हैं—(१) मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि प्राकृतिक होती है, चाहे शिक्षक लोग इस बात को स्वीकार न करें ; परन्तु यह सत्य है कि स्कूल की शिक्षा स्वाभाविक बुद्धि की उन्नति में सहायक नहीं होती। (२) अर्जित ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति स्वाभाविक बुद्धिलब्धि पर अवलम्बित है, यदि वह १२५ निकलती है, तो अर्जित ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति $1\frac{2}{3}\% \times 1\frac{2}{3}\% = 146\frac{2}{3}$ अर्थात् ड्योढ़ी से ऊपर निकलेगी। (३) बुद्धि-गुण्य निश्चित करने में पैतृक गुणों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जब बुद्धि

अथवा अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों की संतति का बुद्धिगुण्य कम ही रहता है ।

श्रेष्ठतम बालकों की देख-रेख

परीक्षाओं से यह प्रकट हुआ है कि बहुत कम व्यक्तियों में १८० तक बुद्धिगुण्य निकलता है । जिनका बुद्धिगुण्य १४० से अधिक हो, उनको केवल कुल का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जाति का एक अमूल्य रत्न समझना चाहिये । यदि उनके स्वास्थ्य की भली भाँति देखरेख हो और अपनी बुद्धि का विकास और ज्ञानोपार्जन करने के लिये पूर्ण क्षेत्र दिया जाय, तो वे जाति के विधायक, विचारों के नेता तथा कला-कौशल के नायक हो सकते हैं । पूर्णक्षेत्र से लाभ उठाने के लिये उन्हें उच्चतम शिक्षा देनी चाहिये । यदि उनका जन्म झोंपड़ी में हुआ हो, तो देश के हित पर ध्यान देकर राज्य या समाज की तरफ़ से उन्हें संपूर्ण सुविधाएँ दी जायँ । मेरी सम्मति में ऐसे बालकों को सहायता देकर आगे बढ़ाना एक प्रकार की जातीय सेवा ही है । फिर केवल इन परीक्षाओं से निर्धारित उच्च अथवा अत्यन्त उच्च बुद्धिवाले बालकों को ही विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाने के लिये भेजना चाहिये ।

उच्च बुद्धिवाले बालकों को जीवन के सुअवसरों से रोक रखना देश-द्रोह है—ऐसा मेरा मत है ; पर साथ ही कम बुद्धिगुण्य वाले विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय की शिक्षा पाने के लिये सहायता देना भी बुरा है ; क्योंकि कई बार अनुत्तीर्ण होकर वे चाहे उपाधि अथवा नाम मात्र को सफलता प्राप्त कर लें ; किन्तु उनका अल्प बुद्धिगुण्य उन्हें नीचे गिरा देगा और उनका जीवन असफल ही रहेगा । ऐसे बालकों को उच्च शिक्षा के लिये उत्साहित करने में धन का अपव्यय होता है और उसका उचित उपयोग तभी हो सकता है जब कि उनकी शक्ति और प्रवृत्ति के अनुसार वृत्ति ग्रहण करने में उनकी सहायता की जाय । देखा गया है कि अत्यल्प बुद्धिगुण्य वाले बालक यन्त्रकला इत्यादि के कार्य में कुछ अधिक सफल सिद्ध हुए हैं ।

देश के लिये महत्ता

मुझे एक आठ वर्ष की लड़की के विषय में अनुभव है कि मैंने प्रायः पन्द्रह वर्ष पूर्व उसकी परीक्षा लेकर देखा था कि उसका बुद्धिगुण्य १५० था। प्रत्यक्षतः वह एक अत्यन्त उच्च जीवनवृत्ति के योग्य थी और उच्च शिक्षा मिलने से उसे जीवन में उन्नति के अवसर प्राप्त हो जाते ; किन्तु उसके कुटुम्बियों ने ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही उसका विवाह कर दिया। उसके नवीन गृह की दशा उसके प्रतिकूल थी। उस बालिका को घर की चहारदीवारी के भीतर अथवा पर्दे में बन्दिनी के समान घर का काम-काज करते हुए निवास करना पड़ा। उसके बुद्धि-वैभव से देश वंचित रह गया, और मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि उसे मानसिक क्षय अवश्य हो गया होगा।

कविवर ग्रे ने अपने शोकगीत में सत्य ही कहा है—

रत्नाकर के अंध गर्भ में छिपे पड़े हैं रत्न अनेक,
अमल विशदता की किरणें करतीं उनका अविरत अभिषेक ;
दृष्टि-क्षितिज से परे, सुमन विकसित होते, ले रूप-प्रसाद,
पर होता है शून्य अनिल में उनके परिमल का अवसाद। ❀

कितने ही बालक-रूपी अमूल्य रत्न और सुगन्धित सुमन दृष्टि में न पड़ने तथा देख-रेख न होने के कारण अपनी बुद्धि के विकास के लिये क्षेत्र नहीं पाते हैं। बुद्धि मापने के वर्तमान उपाय ऐसे बालकों को ढूँढ़ निकालने में समर्थ होंगे और देश की शक्ति बढ़ाने वालों तथा देश-हित-चिन्तकों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे ऐसे बालकों को यथासम्भव क्षेत्र और अवसर प्रदान करने का प्रयत्न करें।

* Full many a gem of purest ray serene
The dark unfathomed caves of ocean bear;
Full many a flower are born to blush unseen
And waste their fragrance in the desert air.

बुद्धि का विस्तार

यह ध्यान देने की बात है कि यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका—जैसे उन्नत देश में भी कठिनता से पाँच प्रतिशत बालक ऐसे हैं, जिन्हें हम देवबुद्धि वालों (geniuses) की श्रेणी में रख सकते हैं। भारत में इस प्रकार का मापन अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है; अतः यह कहना असम्भव है कि इस देश में बुद्धि का वितरण किस प्रकार से है। एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जो किसी भी युग में एक जाति से दूसरी जाति कर सकती है, यह है—‘तुम लोगों में औसत बुद्धि-तल कितना उच्च है और विभिन्न योग्यता के कितने व्यक्ति औसत से ऊपर या नीचे रहते हैं?’ जाति की तुलनात्मक बुद्धि-निधि केवल इसी प्रकार आँकी जा सकती है।

निर्धारित परीक्षाओं के आधार पर अमेरिका के बच्चों के विषय में निम्नलिखित फल आँका गया है—

१. देवबुद्धिशाली	५५ प्रतिशत
२. अत्यन्त उच्च बुद्धिशाली	२८ प्रतिशत
३. उच्च बुद्धिशाली	९ प्रतिशत
४. औसत बुद्धि वाले	४० प्रतिशत
५. स्थूलमति	२० प्रतिशत
६. मंद बुद्धि की सीमा पर	८६ प्रतिशत
७. मंदबुद्धि	२३ प्रतिशत
८. मूर्ख	३३ प्रतिशत

उच्चबुद्धिशाली बालकों के लिये विशेष पाठशालाओं की आवश्यकता है।

एक ढण्डे से सबको हॉकने वाली वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव से (जिसमें कि उपर्युक्त सभी प्रकार के बालक साथ-साथ पढ़ते और काम करते हैं) तथा उन नियमों के कारण, जो प्रत्येक बालक को प्रत्येक

कक्षा में एक वर्ष व्यतीत करने के लिये बाध्य करते हैं, देवबुद्धि और अत्यन्त उच्चबुद्धि का हास हो जाता है ।

ऐसे बालकों को दो कक्षा चढ़ने का तथा इस प्रकार समय बचाने का बहुत ही कम अवसर मिलता है । स्कूल के अधिकारिगण दुहरी तरफ़ी देने में हिचकते हैं और उनकी अनिच्छा के तीन कारण कहे जा सकते हैं— (१) आलस्य अथवा पढ़ का रोव, (२) विशेषतः बुद्धिशाली शिष्यों को अलग न करने की स्वाभाविक इच्छा, और (३) परंपरागत विश्वास, कि बाल-प्रौढ़-पक्व बालकों को शारीरिक अथवा मानसिक भीषण परिणाम के भय से पीछे ही रोक रखना चाहिये । मनोवैज्ञानिक खोज से सिद्ध हो गया है कि विशेष बुद्धिशाली बालक उतने ही स्वस्थ होते हैं, जितने अन्य बालक । उनमें समझ अच्छी होती है, वे औसत से अधिक परिश्रम करते हैं, उनमें वास्तविक गंभीर दोषों का साधारणतः अभाव रहता है, वे सदा मिलनसार होते हैं, अच्छे साथी होते हैं, दूसरे बालकों की अपेक्षा उनमें नेता होने के गुण अधिक होते हैं और विशेष गुण-सम्पन्न होने पर भी वे संयोगवश ही बुरे निकलते हैं ।

कक्षा-संगठन की वर्तमान प्रणाली उनको नहीं जँचती, क्योंकि जो कार्य उन्हें वहाँ करने को बहुधा दिया जाता है, वह उनकी शक्ति से नीची श्रेणी का होता है । जब तक कि उनकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति के प्रयोग के योग्य कार्य नहीं दिया जायगा, तब तक जीवन-भर उन्हें निम्नतर योग्यता के कार्य करने की आदत पड़ जाने का भय है । ऐसे बालकों को कठिन तथा ऊँचे दर्जे का काम देने में भय विशेष नहीं है—भय है उनकी योग्यता से सरल काम देने में । स्कूल में बुद्धि-विकास का क्षेत्र न पाने से प्रायः ऐसे लड़के नटखट और शरारती हो जाते हैं ।

मैंने अब तक यह मान लिया है कि स्कूल के कार्य से स्वाभाविक बुद्धि ही छाँटी जा सकती है ; किन्तु जैसा कि इस अध्याय के प्रारंभ में ही कहा गया है, स्कूल तो अर्जित ज्ञान की ओर ध्यान देते हैं ; इसलिये वे

उच्च बुद्धिशाली बालकों को नहीं छाँट पाते । उनके विषय में उल्टा उन्हें भ्रम हो जाता है और यहाँ तक कि उनका विरोध भी किया जाता है । यह मनोवैज्ञानिकों का काम है कि सामूहिक अथवा व्यक्तिगत परीक्षाओं द्वारा ऐसे बच्चों को छाँटें और उन्हें प्रकाश में लावें । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, देश के भविष्य की भलाई अधिक मात्रा में इन बालकों की उचित शिक्षा पर ही निर्भर है । देश की सभ्यता की उन्नति, उस देश के भौतिक दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, कलाविदों, नीतिज्ञों तथा धार्मिक नेताओं की उन्नति से जानी जाती है । साधारण योग्यता वाला पुरुष या तो औरों का अनुसरण करता है अथवा अनुकरण करता है ; किन्तु दिव्य बुद्धिशाली तो सदा ही पथप्रदर्शक होता है ।

हम अपने देश के दिव्यबुद्धिसंपन्न व्यक्तियों के छाँटने, उन्नत करने तथा उनका सर्वोत्तम उपयोग करने के लिये क्या कर रहे हैं ?

इस काशीपुरी ही में कम-से-कम एक दर्जन हाइस्कूल और कोड़ियों प्राइमरी और मिडल स्कूल हैं । क्या इनमें से एक भी संस्था विशेष बुद्धिसंपन्न बालकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करने का, थोड़े समय में पाठ्यग्रंथ समाप्त करने तथा आगे बढ़ाने का दायित्व लेती है ? आश्चर्य की कोई बात नहीं है ; क्योंकि ऐसे बालकों को छाँटने के लिये हमारे यहाँ मनोवैज्ञानिक ही कहाँ हैं ! किन्तु हमारे आगे जो कार्य है, वह और भी अधिक परिश्रम का है । साइमन और बिने की परीक्षाएँ तथा एल्फा आदि परीक्षाएँ यूरोप और अमेरिका के बालकों की सफलतापूर्वक परीक्षा ले सकी हैं ; किन्तु भारतीय वातावरण में पले हुए बालकों के लिये उनमें सुधार की आवश्यकता है, और उन परीक्षाओं की भाषा भी भारतीय हो बनानी होगी ।

उपसंहार

पिछले अध्यायों में मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि इस देश की भावी जनता को स्वराज्य चलाने के योग्य बनाने के लिये पाठशालाओं तथा कॉलेजों में किस प्रकार की शिक्षा की योजना होनी चाहिये। स्थानाभाव के कारण अनेक युक्तियों का विवरण इसमें नहीं दिया जा सका, कई विषयों की चर्चा तक नहीं हो सकी।

यह पुस्तक इस आशा से लिखी गई है कि समाज के नेता और शिक्षकगण इस विषय पर विचार करना आरम्भ करें और शिक्षा-शैली को ऐसा रूप दें कि बालकगण नवीन जीवन के योग्य हो सकें। बचपन में उनकी जैसी आदतें पड़ जायँगी, वैसी आदतें बड़े होने पर भी रहेंगी।

स्वराज्य चलाने के लिये जनता में विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति होने की आवश्यकता है। उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने के लिये पाठशालाओं तथा कॉलेजों में निरन्तर उद्योग होना चाहिये। तभी बालकगण बड़े होने पर आत्मशासन की प्रणाली को फलीभूत कर सकेंगे और तभी उससे लाभ भी होगा। यदि यह उद्योग न किया गया, तो चाहे जिस प्रकार की राज्य-प्रणाली (नाम-मात्र को) रखी जाय, यथार्थ में किसी-न-किसी का निरंकुश शासन बना ही रहेगा और प्रजा का असह्य कष्ट कभी दूर न होगा।

यह आवश्यक नहीं है कि पाठकगण इस पुस्तक में लिखी हुई प्रत्येक बात को स्वीकार करें । जितना अंश ग्राह्य हो, उतने ही को ले उद्योग आरम्भ करें । मुझे विश्वास है कि उद्योग का फल ल'कारी होगा ।

हमलोग बड़े ही विलक्षण युग में पैदा हुए हैं । सारी दुनिया ढाँवाह' हो रही है । शेषनागजी बड़े ज़ोर से सिर हिला रहे हैं ! जीवन के हर-
क्षेत्र में और प्रत्येक देश में क्रान्ति हो रही है । हिन्दुस्तान में तो उर
विशेष प्रभाव दिखलाई पड़ रहा है—ऐसा जान पड़ता है कि दस-बीस
में ही यहाँ एक निराली दुनिया दीख पड़ेगी ।

इस क्रान्ति से देश को लाभ होगा या अनर्थ होगा, यह ह' उद्योगों पर निर्भर है—विशेषकर भावी जनता की शिक्षा पर । विचारव'
सज्जनों को इस प्रश्न के महत्त्व पर ध्यान देना चाहिये—विचार कर
चाहिये और शिक्षा-शैली को ऐसा रूप देना चाहिये कि जिससे भविष्य
देश का कल्याण हो । यदि समाज अपना कर्तव्य करे, तो हम आ
कर सकते हैं कि—

आवेंगे मौर रसालन में, कोकिल डारन में बिहरेंगे ।

एक दिना न तु एक दिना, यहि भारत के दिन फेर फिरेंगे ॥
